THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178317
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H920/D45D Accession No. G.H. 972

Author देसाई, महादेव।

Title दो खुदाई खिदमतगार—1939

This book should be returned on or before the date last marked below.

दो ख़ुदाई ख़िदमतगार

ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ तथा
डा० ख़ान साहब की
प्रामाणिक
जीवनी

लेखक

महादेव देशाई

भूमिका लेखक

महात्मा गांधी

मुद्रक और प्रकाशक,

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस.

दिल्ली

"मेरी अहिंसा मेरे लिए क़रीब-क़रीब धर्म-विश्वास की बात हो गई है। गांधीजी की 'अहिंसा' में मैं पहले से विश्वास रखता था। मगर मेरे अपने प्रान्त में इस प्रयोग की जो अपूर्व सफलता मिली है उसने मुझे अहिंसा का एक ज़बर्दस्त हिमायती बना दिया है। ईश्वरने चाहा तो मैं अपने प्रान्त को हिंसात्मक बनते हुए कभी न देखूंगा। यह हो सकता है कि मुझे सफलता न मिले और मेरे प्रान्त में हिंसा की लहर छा जाय। यदि ऐसा हुआ तो उसे मैं अपना भाग्य समझ लूंगा। पर उससे उस अहिंसा में मेरा जो अन्तिम विश्वास है जिसकी कि मेरे प्रान्त-वासियों को सबसे ज्यादा ज़रूरत है, उसमें कोई कमी न आएगी।"

ख़ान अब्दुलगफ़्फ़ारख़ाँ

भूमिका

खान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ के सम्पर्क में आने की अभिलाषा तो मुझे हमेशा रही है, लेकिन गत वर्ष के आख़िरी महीनों से पहले मुझे कभी ऐसा मौक़ा नहीं हुआ कि मैं कुछ समय तक उनके साथ रहता। परन्तु हज़ारीबाग़-जेल से छूटने के बाद, सौभाग्यवश, शीघ्र ही न केवल ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ बल्कि उनके बड़े भाई डा० ख़ानसाहब भी मेरे पास आ गये। भाग्य की बात है कि २७ दिसम्बर तक सीमाप्रान्त में उनका प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया, और काँग्रेस के आदेश के अनुसार वे आज्ञा-भंग कर नहीं सकते थे। अतः उन्होंने वर्धा में सेठ जमनालाल बजाज का आतिथ्य स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मुझे इन भाइयों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का मौक़ा मिल गया। जितना-जितना मैं उन्हें जानता गया, उतना ही अधिक मैं उनकी ओर आकर्षित होने लगा। उनकी पारदर्शी सचाई, स्पष्ट-वादिता और हद दर्जे की सादगी का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा। साथ ही मैंने यह भी देखा कि सत्य और अहिंसा में केवल नीति के तौर पर नहीं वरन ध्येय के रूप में उनका विश्वास हो गया है। छोटे भाई (ख़ानसाहब अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ) तो मुझे गहरी धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत प्रतीत हुए। परन्तु उनके विचार संकीर्ण नहीं हैं। मुझे तो वह विश्व-प्रेमी मालूम पड़े। उनमें यदि कुछ राजनीतिकता है तो उसका आधार उनका धर्म है। और डाक्टर साहब की तो कोई राज-नीति हई नहीं।

इनके सम्पर्क में आने का जो अवसर मुझे प्राप्त हुआ, उससे मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि खान-बन्धुओं को समझने में बहुत गलतफ़हमी हुई है। इसलिए महादेव देशाई से मैंने कहा कि इनके द्वारा इनके जीवन-सम्बन्धी जो बातें मालूम हो सकती हों उन्हें वे जान लें और फिर उनपर से इनके जीवन का ऐसा खाका तैयार करें, जिसमें राजनीति पर ज़ोर न हो और सरकार की टीका-टिप्पणी से बचते हुए सर्व-साधारण को विशुद्ध मनुष्य के रूप में इनका परिचय कराया गया हो। उसीके फलस्वरूप, यह जीवन-वृत्तान्त प्रस्तुत किया जाता है। मैं समझता हूं, जैसा इन भाइयों ने महादेव देशाई को बताया, यह इनके जीवन की घटनाओं का सही और सच्चा वर्णन है। सीधे-सादे शब्दों में ये अपनेको 'खुदाई खिदमतगार' कहते हैं। इस जीवन-वृत्तान्त से इन भाइयों का यह दावा सच साबित होता है या नहीं, यह पाठक खुद ही निर्णय करलें।

दिल्ली,
१४ जनवरी, १९३५

मोहनदास करमचन्द गांधी

१

प्राक्कथन

हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए पिछले पन्द्रह सालों से जो लड़ाई जारी है, बहुत-सी बातों में, वह एक भूकम्प के मानिन्द है। चूँकि यह सर्वथा अहिंसात्मक रही है, इसलिए भूकम्प के कुछ हिंसात्मक ज्वालामुखी लक्षणों का तो इसमें अभाव रहा है; परन्तु हमारी राष्ट्रीय भावना को इसने उसी प्रकार ऊपर ला दिया है, जैसे भूकम्प पृथ्वी को जड़ से हिलाकर नीचे-ऊपर कर देता है। सदियों के तास्सुब और सत्ता-सुख तथा सुविधा के महल चाहे अभी बिलकुल मटियामेट न हो गये हों, मगर इसके कारण उनकी जड़ बिलकुल हिल चुकी हैं; और जिस प्रकार एक स्वाभाविक भूकम्प से पृथ्वी की शक्ल बदल जाती है, हमारे राजनीतिक रूप में भी आज उससे कम क्रान्तिकारी परिवर्त्तन नहीं हुआ है।

आज से बीस साल पहले जालियांवाला-बाग, बारडोली और चौरीचौरा को कौन जानता था ? चिरालापेराला तथा बोरसद का ही किसे पता था ? डाण्डी, धरासना, वेदारण्यम् और वडाला को भी उनके आसपास रहनेवाले मुट्ठीभर लोगों के सिवा और कोई न जानता था। परन्तु भविष्य में जो इतिहासकार भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम का इतिहास लिखेंगे, उनके लिए इन सब तथा और भी अनेक ऐसे ही स्थानों का, जिनका कि मैं नाम ले सकता हूँ, ऐसा महत्त्व होगा, जो नक़्शे में उन सबके नाम हों तो भी, इससे पहले उन्हें कभी प्राप्त नहीं हुआ।

और अगर उनका बीस वर्ष पहले कोई महत्त्व नहीं था, तो हमारे समस्त उत्तर-पश्चिमीय सीमाप्रान्त का भी उससे पहले क्या महत्त्व था, जबतक कि १६३० में वे घटनाएँ हमारे सामने न आई कि जिन्हें आज हम जानते हैं और जिनके कारण ही वह बराबर हमारी नज़रों में समाया हुआ है ? हममें से जो मुट्ठीभर आदमी अख़बार पढ़ते रहते हैं उनका यह संकीर्ण विचार अवश्य था कि हमारे उत्तर-पश्चिमीय क्षितिज पर 'सरहद' या 'सीमाप्रान्त' कोई एक ख़तरनाक लाल जगह है, और जहाँ उसका कोई उल्लेख आया कि अंग्रेज़ों का बनाया हुआ रूसी हौआ उनके सामने आ खड़ा होता था। इतिहास का विद्यार्थी सरहदी जातियों पर की जानेवाली ताज़ीरी चढ़ाइयों का जब हाल पढ़ता था तो आँखें मल-मलकर उसकी असलियत जानने की कोशिश करता था। उनमें से कुछ चढ़ाइयों का अन्त तो तभी हुआ जब अंग्रेज़ों ने उन्हें इस बात के लिए ख़िराज़ देना मंजूर कर लिया

कि नाजुक मौक़ों पर वे अंग्रेज़ों की सलाह ले लिया करें। एक मिस एलिस के अपहरण की घटना से उस जाति या वहाँ के बाशिन्दों के चरित्र का उतना रहस्योद्घाटन नहीं होता, जितना इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि अगर शासकजाति के किसी व्यक्ति पर कोई संकट आये तो किस प्रकार शक्तिशाली साम्राज्य की सारी शक्तियां उसके लिए जुटाई जा सकती हैं। पर हमारे अज्ञान, अशिक्षित गांववाले तो सिर्फ़ यही जानते हैं कि सरहद (सीमाप्रान्त) एक ऐसा देश है, जहां से सूदखोर और उत्पीड़क पठान आते हैं और निर्दयता-पूर्वक खूब ब्याज इकट्ठा करके जब वहां वापस चले जाते हैं तो फिर उनका कोई पता नहीं लगता।

परन्तु १९३० और उसके बाद के वर्षों ने बतला दिया कि सीमा-प्रान्तवाले भी हमारी ही तरह सोचते-समझते हैं. भारत के अन्य प्रान्तवासियों के समान ही उन्होंने भी आज़ादी को लड़ाई को अपनी चीज़ समझकर लड़ा है, और अन्य प्रान्तवासियों की अपेक्षा उन्होंने कहीं ज़्यादा बलिदान किये और तकलीफ़ें सही हैं। जिन्हें १९३१ में करांची का महान् कांग्रेस-अधिवेशन देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन्होंने ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ां और उनके दल के कुछ अनुयायियों को पहली मर्तबा वहीं देखा था। यह एक बड़ा आश्चर्यजनक रहस्यो-द्घाटन था कि सीधे-सादे, ज़रा-से में भड़क उठनेवाले भीमकाय पठान भी ऐसी संस्था से सम्बद्ध हैं, जिसने अहिंसा का व्रत ले रक्खा है, और भारी-से-भारी उत्तेजनाओं के होते हुए भी अहिंसात्मक प्रवृत्ति चला सकते हैं। भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों का वर्णन करने वाली

पुस्तकों में हम पठानों के दृढ़ निश्चय की कहानियाँ पढ़ते हैं तो हमें उस रोमन का स्मरण हो आता है, जो अपने हाथ को जलती हुई आग में डालकर तबतक थामे रहा जबतक कि वह जलकर बिलकुल भुन न गया।

कहते हैं कि एक पठान चोर किसी मकान में नक़ब लगाकर अन्दर हाथ डाल रहा था कि इतने में मकान-मालिक जाग पड़ा और ज़ोर से चोर का हाथ पकड़कर मदद के लिए दूसरों को पुकारने लगा; परन्तु बजाय इसके कि वह पकड़ा जाता, उसने तुरन्त अपनी कलाई पर से हाथ को काट डाला और मकान-मालिक उस कटे हुए हाथ को लिये लड़खड़ाता हुआ रह गया!

इस अहिंसात्मक युद्ध में भी, जिसमें पठानों ने भाग लिया है, हमें उनके ठण्डे साहस और दृढ़ निश्चय की ऐसी ही बल्कि इससे उत्कृष्ट कहानियाँ मिलती हैं। १९३० की बात है। ख़ान-बन्धुओं के एक चाचा हाजी शाहनवाज़ख़ाँ ज़मानत की धारा के मातहत जेल में थे। कुछ ग़ैरलू परिस्थितियों ने उन्हें ज़मानत जमा करके छूटने के लिए मजबूर किया। लेकिन, कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, उनका एक भी रिश्तेदार, जो जेल से बाहर था, इस बात को बर्दाश्त न कर सका; और उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि ज़मानत के ख़िलाफ़ कोई काम करके वह वापस जेल चले जायँ। कुछ समय तक तो शाहनवाज़ख़ाँने इस बात पर विचार किया, बाद को चुपचाप अपनी हत्या करली। आत्महत्या से पहले वह एक नोट लिखकर रख गये थे, जिसमें उन्होंने कहा था कि मेरी वजह से हमारे ख़ानदान पर जो

कलंक लगा है वह वापस जेल जाने से नहीं धुल सकता, उसका मुआवज़ा तो सिर्फ़ मौत ही हो सकती है !

और लीजिए। सय्यद अब्दुल वदूद बादशाह एक प्रमुख कार्य-कर्त्ता, मज़हबी नेता और ज़मींदार थे। हालांकि वह सरहद के ब्रिटिश ज़िलों के नहीं बल्कि मलकन्द एजेन्सी के निवासी थे, मगर वह भी तीन सालतक ज़मानती दफ़ा के शिकार रहे। यहाँतक कि १९३१ की सन्धि के समय भी वह रिहा नहीं किये गये। तब उनके जराजीर्ण पिता ने, जो अपनी मौत के द्वार पर खड़े थे, इस ख़याल से उनकी ज़मानत जमा कर दी कि मरने से पहले एक बार मैं अपने बेटे का मुंह देख सकूँ। सय्यदसाहब को अपने इसतरह छूटने पर बड़ा क्षोभ हुआ और इसके लिए उन्हें इतना अधिक लज्जानुभव हुआ कि, बिना इसकी परवा किए कि बूढ़े पिताजी को कितना कष्ट होगा, उन्होंने पिस्तौल से अपनी हत्या करली।

जो दुर्दम्य क़ौम ऐसे शूरवीरों को पैदा करती है, उसके बारे में कौन अधिक न जानना चाहेगा ? ख़ानबन्धुओं के हज़ारीबाग़-जेल से छूटने के बाद, जहाँ कि वे शाही क़ैदी थे, मुझे उन्हें काफ़ी निकट से भली-भाँति जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इन भाइयों के प्रति मेरे हृदय में जो आदर और प्रेम था, उसे इस घनिष्ठता ने और भी गहरा कर दिया है। यही नहीं, बल्कि इस घनिष्ठता का उपयोग कर, उनके जीवन-सम्बन्धी सब तरह के प्रश्नोत्तर करने की भी मैंने उनसे पूरी छूट ली है। इन प्रश्नोत्तरों के बीच उन्होंने अपनी जो कहानी बताई, वह इतनी हृदयस्पर्शी है कि उसके कुछ अंशों को लेखबद्ध

करके सर्व-साधारण को भी उसका भागीदार बनाने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। पर जब वे खानबन्धुओं की यह जीवन-कथा पढ़ेंगे, तो मेरे साथ उन्हें निश्चय ही इस बात पर बड़ा आश्चर्य होगा कि भला इनके साथ सरकार की ओर से इतना कठोर व्यवहार क्यों किया गया?

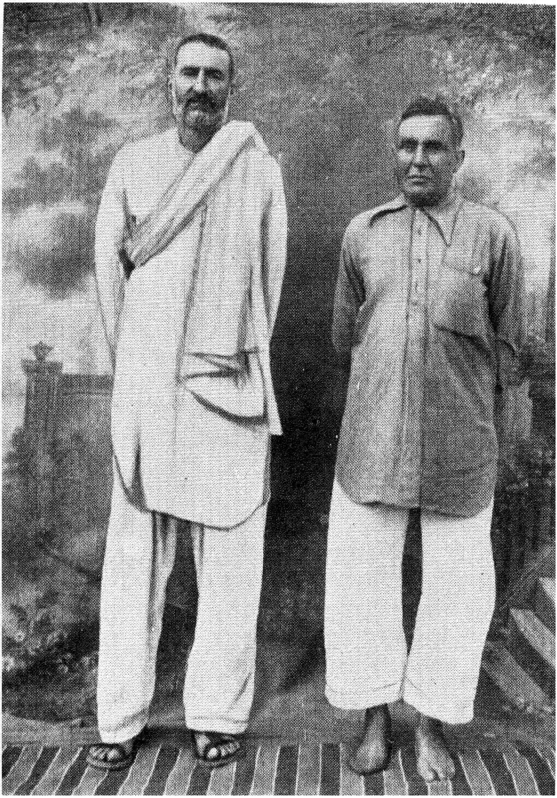

ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ, डा० ख़ानसाहब

२

जन्म और वंश

"मैं अपनी पैदाइश का साल तो बतला सकता हूँ," ख़ान-बन्धुओं में से छोटे (ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ) ने कहा, "पर तारीख़ नहीं बतला सकता। क्योंकि जेठ के हिसाब से अपनी जन्मतिथि मुझे मालूम है, ईसाई साल के हिसाब से नहीं।"

"जेठ!" आश्चर्य के साथ एकदम मेरे मुँह से निकल पड़ा, "जेठ तो हमारे यहाँ भी होता है।"

"हाँ-हाँ, जेठ।" ख़ानसाहब अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ ने कहा, "हमारे और आपके यहाँ जितना हम जानते हैं, उससे कहीं ज़्यादा समानताएँ हैं। हमारी परम्पराएँ मिलती-जुलती हैं, हमारे बहुत-से रीति-रिवाज एक-से हैं, और इन सबसे भी अधिक हमें यह न भूल जाना चाहिए कि सदियों तक हमारे यहाँ बौद्ध धर्म ही माना जाता रहा है। हमारा

ज़िला बौद्ध काल के अवशेषों से भरा पड़ा है, कुछ क़स्बों के नाम या तो बौद्ध हैं अथवा हिन्दू, और पश्तो के बहुत-से शब्द संस्कृत से ही लिये हुए हैं।"

× × × ×

बड़े भाई डा० खानसाहब सन् १८८३ में पैदा हुए थे, और छोटे भाई खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखाँ १८९० में। मुहम्मदज़ई जाति के खान-परिवार में इनका जन्म हुआ। 'ज़ई' का शाब्दिक अर्थ है 'पैदा होना' और वह वंश का परिचायक है, और 'खान' का अर्थ है मुखिया या सरदार। सरहद की सारी जातियाँ अपने प्राचीनतम पूर्वज के नाम पर ही प्रसिद्ध हैं।

खानबन्धुओं के पिता खानसाहब बेहरामखाँ उतमानज़ई गाँव के खान थे, जो पेशावर ज़िले की चरसद्दा तहसील में है। चरसद्दा पेशावर से बीस मील पर है, और उतमानज़ई चरसद्दा से दो मील दूर स्वात नदी के किनारे एक बहुत रमणीक स्थान है। इसके पश्चिम ओर लगभग बीस मील के फ़ासले पर मोहमन्द जातियों का प्रदेश है, जिसमें होकर अफ़ग़ानिस्तान जाया जाता है। ऐसे वातावरण में पैदा होकर पलनेवाले खानबन्धु स्वभावतः प्रकृति-प्रेमी हैं और आधुनिक सभ्यता के निवासस्थान शहरों में उन्हें उतना अच्छा नहीं लगता—यद्यपि यह बात हमें न भूलनी चाहिए कि, बड़े भाई की बहुत-कुछ पढ़ाई इंग्लैण्ड में ही हुई है और लगभग ग्यारह वर्ष उन्होंने विदेशों में बिताये हैं। बातें करते-करते अक्सर उन पहाड़ियों और उस नदी तथा उस छोटे-से द्वीप की ओर ही उनका खयाल

दौड़ जाता है, जहां उन्होंने एक प्रकार का एक छोटा-सा आश्रम बनाया है और एक-न-एक दिन गांधीजी को वहाँ अपना मेहमान बनाने की कल्पना किये हुए हैं। "महात्माजी!" उन्होंने कहा, "वहीं आपका आश्रम रहे। हम नहीं समझते कि उससे भी अधिक शान्त और सुन्दर वातावरणवाली कोई जगह है। सारी पेशावर-घाटी सब तरह के फलों से लदी हुई है। और हम आपको यक़ीन दिलाते हैं कि वहाँ आपका वज़न खूब बढ़ जायगा।" अपने गन्ने के खेतों और अपनी गायों व भैंसों के बढ़िया मलाईदार दूध का वे ज़िक्र किया करते हैं। गाय का दूध तो केवल मक्खन बनाने के काम आता है और भैंस का दूध अन्य सब कामों में इस्तैमाल होता है। "मगर आज वे खेत कहाँ हैं और उनका क्या हाल है, यह हम नहीं जानते"—लंबी साँस लेकर वे यह बात कहते हैं, जो उनकी हार या निराशा को नहीं, बल्कि उस घरेलू मोह को प्रकट करती है जो किसी निर्वासित के लिए बिलकुल स्वाभाविक है।

परन्तु, हम तो उनके पिता की बात कर रहे थे। जब इन भाइयों ने अपने पिता की कथा सुनाई, तो मेरे मन में सहसा पटेल-बन्धुओं के पिता का स्मरण हो आया। दोनों ही की कथा में विचित्र समानताएँ मिलती हैं। पटेल-पिता और ख़ान-पिता दोनों ही बड़े धार्मिक थे, दोनों ही काफ़ी उम्र—नव्वे वर्ष से अधिक—तक ज़िन्दा रहे, और अपने बच्चों की परवरिश में भी दोनों का लगभग एक ही सा भाग रहा। लेकिन यहीं समानता का ख़ात्मा होता है, क्योंकि पटेल-बन्धुओं को तो एक प्रकार से बिलकुल अपने बल पर बना

हुआ कह सकते हैं, किन्तु ख़ानबन्धुओं को कदाचित् उसी हदतक अपने-आप बना हुआ नहीं कह सकते। ख़ान-पिता ज़मींदार की तरह एक पूरे गाँव के सरदार थे और उनके पास अपने पुत्र को इंग्लैण्ड भेजने के लिये काफ़ी रुपया था। परन्तु पटेल-पिता की आमदनी तो इतनी कम थी कि उनके पुत्रों को अपने-आप अपनी शिक्षा जारी रखनी पड़ी। पटेल-पिता दुनियादार की अपेक्षा एक प्रकार संन्यासी-से थे, जब कि ख़ान-पिता का इतना दबदबा था कि अस्सी से ऊपर हो जाने पर भी १९१९ में छोटे पुत्र की गिरफ़्तारी के बाद सरकार को शीघ्र ही उन्हें भी गिरफ़्तार करना पड़ा था!

"हमारे माता-पिता हमारे हृदय में सच्चे धार्मिक जीवन के उदाहरण-स्वरूप विराजमान हैं," अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ ने कहा, "दोनों थे तो बेपढ़े-लिखे, परन्तु दोनों ही का जीवन भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक था। मेरी माता अक्सर नमाज़ के बाद शान्त और स्थिर चित्त से बैठकर ध्यान किया करती थीं। ईश्वर-परायण वे इतने थे कि अभीतक मैंने वैसा और किसीको नहीं देखा।

"हमारे पिताने अपने जीवन में मित्र तो अनेक बनाये, पर शत्रु किसीको नहीं बनाया। वस्तुतः, अपने कुछ अज़ीज़ और नज़दीकी रिश्तेदारों के नाम न बताते हुए, मैं कह सकता हूँ कि उनके दुश्मन तो बहुत थे पर उनके सद्व्यवहार से अन्त में अपने आपही उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ और तब बदसलूकी छोड़कर वे उनके हितैषी बन गये और अन्ततक हितैषी ही रहे। बात यह है कि बदला लेना वह जानते ही न थे। उनको अंतःकरण से इस बात में विश्वास था

कि धोखा खाने में कोई बेइज़्ज़ती नहीं है, बेइज़्ज़ती तो धोखा देने में है। अपनी बात के धनी थे, और इतने सच्चे थे कि उनके दुश्मनों ने भी कभी उनपर अविश्वास करने या उनकी किसी बात को ग़लत बताने का साहस नहीं किया। लोगों के झुण्ड-के-झुण्ड आकर उनके पास अपना रुपया जमा कर जाते, मगर कभी किसीने रसीद नहीं माँगी; क्योंकि वे जानते थे कि उनका खाता ऐसा है जो कभी डूब नहीं सकता। अधिकारियों की चापलूसी करने का उन्होंने कभी ख़याल तक नहीं किया, पर ज़बरदस्त-से-ज़बरदस्त आदमी भी उनसे डरते थे। बड़े-से-बड़े ब्रिटिश अफ़सर भी उन्हें 'चचा' कहकर ही पुकारते और बहुत सोच-समझकर ही कोई ऐसा काम करते, जिससे उनके नाराज़ होने का भय होता।"

"वह ज़िन्दा कबतक रहे ?" मैंने पूछा, "और आज़ादी की हमारी लड़ाई में भी उनको दिलचस्पी थी या नहीं ?"

"१९२६ में ९५ वर्ष की उम्र में उनका स्वर्गवास हुआ। यह तो मैं नहीं कह सकता कि हमारी लड़ाई के अभिप्राय को उन्होंने समझ लिया था, परन्तु यह बात ज़रूर है कि वह सभी क्षेत्रों में सुधार के पक्षपाती थे। उन दिनों जो लोग अपने बच्चों को आधुनिक स्कूलों में भेजते, मौलवी-मुल्लाँ उन्हें बड़ी टेढ़ी नज़र से देखते थे। परन्तु उन्होंने इसकी कोई परवा नहीं की। इसके बाद जब रौलट बिल का आन्दोलन चला तो मैं उसमें पड़ गया। नतीजा यह हुआ कि फ़ौरन ही मैं गिरफ़्तार कर लिया गया। ६ अप्रैल को उतमानज़ई में एक लाख से अधिक व्यक्तियों की सभा हुई। मेरे पिता भी उसमें उपस्थित थे।

मेरी गिरफ़्तारी के बाद और भी कई को फँसाने का प्रयत्न किया गया। दो हफ़्ते से अधिक समय तक तो यही नहीं बतलाया गया कि मैं कहाँ हूँ, बाद को एक जिरगे (डेप्युटेशन) के साथ पुलिस का मुख्य अफ़सर मेरे वृद्ध पिता के पास पहुँचा और यह कहकर उन्हें डराने की कोशिश की कि 'वे लोग बादशाह को गोली से मार देंगे'।"

"बादशाह ?" मैंने पूछा।

"हाँ," ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँने हँसते हुए कहा," मैं उस समय बादशाह था। लोग मुझे बादशाह कहते थे।"

"यह बात तो मुझे 'यहूदियों के राजा' की याद दिलाती है।"

"यह आपकी मेहरबानी है। ख़ैर। वे जो-कुछ चाहते थे वह यही कि मुझे सख़्त सज़ा देने की धमकी देकर मेरे पिता को भयभीत कर दें।"

"अन्त में फिर क्या हुआ ?"

"यही कि मेरे पिता भी परिवार के कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ गिरफ़्तार कर लिये गये।"

"उनके बुढ़ापे को देखते हुए, उनपर यह गिरफ़्तारी तो बहुत भारी बीती होगी ?"

"नहीं। इसके विपरीत उन्हें इस बात की बड़ी ख़ुशी हुई कि वह भी मेरे ही पास आ पहुँचे। मुझे देखते ही उनके मुँह से निकला—'क़ैद होकर मैं कितना सुखी हूँ, नहीं तो कौन जानता है कि कितने दिनों या वर्षोंतक मैं तुम्हें न देख पाता ?'"

"और वह जेल में रहे कबतक ?"

"तीन महीने से कुछ ऊपर। इसके बाद सर जार्ज रूज़ केपल ने पठानों को खुश करने की नीति अख़्तियार की, और तब मैं भी छै महीने से ज़्यादा जेल में न रक्खा गया।"

१९२६ में ख़ान-पिता का स्वर्गवास हुआ। वह कब पैदा हुए, यह उन्हें बिलकुल पता न था; परन्तु उनके पुत्रों का अनुमान है कि वह सौ वर्ष से ऊपर न पहुँचे होंगे तो लगभग सौ बरस के तो ज़रूर होंगे, क्योंकि अपनी उम्र न बता सकने पर भी १८५७ के ग़दर की विभिन्न बातें उन्हें बहुत अच्छी तरह याद थीं और उस वक्त उनकी चढ़ती हुई जवानी थी। उस विषम काल में पठानोंने जो काम किया उसके लिए उन्होंने कभी गौरवानुभव नहीं किया। जब ख़ानबन्धु पिता से सुनी हुई अपने बड़े चाचा की बातें कहते, जिन्होंने चरसद्दा के ख़ज़ाने पर लगाये गये फ़ौजी पहरे के मुखिया की हैसियत से अंग्रेज़ों की बहु-मूल्य सेवा की थी, तो उनके चेहरे पर कुछ लज्जा की झलक आती थी।

"इसमें शर्म की क्या बात है?" मैंने कहा, "मुझे याद है, पं० मोतीलालजी ने मुझे बताया था कि उनके पिता व चाचा ने भी ग़दर के दिनों में अंग्रेज़ों का साथ दिया था।"

"चाहे जो हो," बड़े ख़ान ने कहा "मगर ग़दर के समय सिक्खों और पठानोंने जो कुछ किया उसकी स्मृति मुझे अच्छी नहीं लगती। अगर उन्होंने अपना व्यवहार अच्छा रक्खा होता, तो इतिहास संभवतः कुछ और ही तरह का बनता।"

"वह ज़माना और था। लेकिन यह क्या कुछ कम बात है कि ऐसी ऐतिहासिक परम्परावाले दो महान् परिवार आज

आज़ादी की लड़ाई के लिए अपना सब-कुछ क़ुरबान करने के लिए तैयार हैं?"

"यह तो ठीक ही है। हमने जो पाप किये हैं, उनके थोड़े-बहुत प्रायश्चित्त का यही तरीक़ा है।"

अन्त में, मैं उस गहरी भावना का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता, जिससे प्रेरित होकर दोनों भाई सदा अपने पिता की चर्चा किया करते हैं—ख़ासकर उनकी उस असीम उदारता के लिए कि जिसमें प्रेम-पूर्ण कृपा और दीर्घ कष्टसहन भी शामिल है। ऐसे पिता का ही यह पुण्य प्रताप है कि उनके इन सुपुत्रों ने जन्म से ही अपने अन्तस्तल से अहिंसा पर दृढ़ रहने की विरासत पाई है।

३

प्रारम्भिक जीवन

अब हम इन भाइयों के प्रारम्भिक जीवन पर आते हैं। उस पिछड़े हुए प्रान्त में इन भाइयोंने ऐसी ऊँची शिक्षा कैसे प्राप्त की और आज़ादी की लड़ाई में ये कैसे शामिल हुए, यह जानने की मुझे बड़ी उत्सुकता थी।

"हमारे यहाँ स्कूलों में तालीम पाना किस प्रकार मना था," छोटे भाई ख़ान अब्दुलग़फ्फ़ारख़ाँ ने कहा, "यह मैं आपको बता चुका हूँ। हमारे यहाँ तो मसजिदों में मकतब थे, जहाँ मौलवी क़ुरान पढ़ाते और लौकिक विषयों की मामूली शिक्षा देते थे। परन्तु अंग्रेज़ों के आगमन के बाद तो मकतब भी इने-गिने ही रह गये और स्कूल भी उनकी जगह बहुत कम ही खुले। जो स्कूल खुले उनके बारे में भी लोगों के ख़याल अच्छे नहीं थे। परन्तु हमारे पिता ने इस

बात पर ध्यान नहीं दिया और हमें पेशावर के मिशन स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिया। वहाँ से मेरे भाई ने पंजाब-यूनिवरसिटी की मॅट्रिक परीक्षा पास की, एक साल बम्बई के ग्राण्ट मेडिकल कालेज में अभ्यास किया, और फिर अपनी डाक्टरी पढ़ाई पूरी करने के लिए वह इंग्लैण्ड चले गये। जब उनके विलायत जाने की बात उठी, तो हमारी जाति में एक तरह का तहल्का-सा मच गया। यह भय किया जाने लगा कि कहीं वह ईसाई न हो जायँ। यह भी डर था कि कहीं फिर घर न लौटकर वहीं न बस जायँ। और अंग्रेज़ स्त्री से ब्याह करने का भय तो बाद में सच भी निकला। लेकिन इन बातों में हमारे पिता के विचार अधिक-से-अधिक उदार थे। उन्होंने कहा कि अपने पुत्रों की शिक्षा में मैं किसी प्रकार बाधक नहीं बनूँगा। दुर्भाग्यवश मैं मॅट्रिक-परीक्षा में पास नहीं हुआ था। फिर भी इंग्लैण्ड जाने का सवाल उठा तो मेरे लिए भी, और निस्सन्देह मैं चला भी गया होता, परन्तु हमारे परिवार में दो-तीन मौतें हो जाने से मेरा जाना रुक गया; क्योंकि यह उच्च शिक्षा के अर्थ मेरे इंग्लैण्ड जाने के लिए अशुभ समझा गया। इन घरेलू घटनाओं और इन सब वहमों ने मेरे दो क़ीमती साल यों ही गँवा दिये। फिर मेरे भाई के एक अंग्रेज़ लड़की से विवाह कर लेने की बात सुनकर, मेरे घरवालों ने मेरे इंग्लैण्ड जाने की बात को ही एकदम ख़त्म कर दिया; और इसके साथ ही मेरी पढ़ाई भी वहीं रुक गई।"

मगर मिशन स्कूल के इस थोड़े से विद्यार्थी-जीवन का भी छोटे भाई पर कम प्रभाव नहीं पड़ा। स्कूल के तत्कालीन प्रिंसिपल रेवरेण्ड विग्रम

अपने चरित्र-बल एवं आत्म-त्याग के कारण अपने शिष्यों के बड़े प्रीति-भाजन थे। दोनों भाई आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें याद करते हैं। छोटे भाई ने तो अपने प्रिंसिपल की लगन से प्रभावित होकर उन्हींकी तरह तत्परता से अपनी जाति की सेवा करने का कुछ निश्चय-सा भी कर लिया था। परन्तु उनके इंग्लैण्ड जाने की बात ख़त्म होने से पहले, जब कि वह सेवा-मार्ग पर अग्रसर नहीं हुए थे, उन्हें सेना में भरती होकर सैनिक के रूप में प्रसिद्ध होने की प्रेरणा हुई। एक तो पठान योंही पैदायशी सैनिक माना जाता है, फिर वह एक धनी कुलीन वंश के थे, अतः सेना में भरती होनेकी उनकी दरख़ास्त मंज़ूर हो गई। "सैनिक जीवन भी," ख़ानसाहब ने मुझसे कहा, "माया से ख़ाली नहीं है। मेरी जान-पहचान के कई आदमी वहाँ ऐसे थे जो ऊँचे ओहदों पर थे। उन्हें देखकर मैं अपने मन में समझने लगा था कि अंग्रेज़ों की तरह शान से रहने के लिए मैं ख़ास तौर पर उपयुक्त हूँ। लेकिन अल्लाह की तो कुछ और ही मर्ज़ी थी। ऊँचे ओहदे के एक फ़ौजी मित्र से मैं मिलने गया था। वहाँ मैंने उससे हलके दर्जे के एक अंग्रेज़ अफ़सर को उसका बुरी तरह अपमान करते हुए देखा। यह दृश्य मुझे बहुत बुरा लगा, और इसने निश्चित रूप से मुझे फ़ौजी जीवन से विमुख कर दिया। इसके बाद कोई एक साल मैं अलीगढ़ रहा। वहाँ उर्दू का अध्ययन करने की मेरी इच्छा और तीव्र हो गई और मैं बड़े ग़ौर से मौ० ज़फ़रअलीख़ाँ के दैनिक 'ज़मींदार' और मौ० अबुलकलाम आज़ाद के साप्ताहिक 'अल हिलाल' को पढ़ने लगा। इनमें से

'अल हिलाल' दुर्भाग्यवश युद्ध के दिनों में दबा दिया गया था। परन्तु मेरी राजनीतिक शिक्षा इस अध्ययन से शुरू हुई कही जा सकती है। और राष्ट्रीय शिक्षा में मेरी दिलचस्पी १९११ से शुरू होती है, जब कि अपने प्रान्त में कई राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना में मैंने अमली भाग लिया था। महायुद्ध के बाद मैदान में की गई हमारी सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप रौलट बिल जब हमारे सामने आया, तो मैं निःसंकोच उसके विरुद्ध महात्माजी के आंदोलन में कूद पड़ा। उस समय जैसा कि और सब जगह हुआ था, हमारे प्रान्त में भी अभूतपूर्व हड़तालें हुईं—और यह तो मैं आपको बता ही चुका हूँ कि मेरे वृद्ध पिता किस प्रकार उतमानज़ई में ६ अप्रैल की सभा में शामिल हुए थे, जिसमें कि एक लाख से कम उपस्थिति नहीं थी। वहाँ सत्याग्रह का कोई प्रत्यक्ष कार्य तो नहीं हुआ, परन्तु अधिकारियों के लिए तो यही बात काफ़ी थी कि वह सभा हमने बुलाई थी। मैं गिरफ्तार तो हुआ, पर मुझपर बाक़ायदा मुक़दमा नहीं चला। मुझसे पूछा गया—'क्या तुम पठानों के बादशाह थे?' मैंने कहा, 'मुझे मालूम नहीं, पर यह मैं जानता हूँ कि मैं अपनी जाति का एक नम्र सेवक हूँ और इन बिलों को हम चुपचाप क़बूल नहीं कर सकते।' डेप्युटेशन के रूप में जो जिरगा मेरे पास आया, उसने मेरे साथ सब तरह की दलीलें कीं और सभी तरह की धमकियाँ भी मुझे दी गईं। मिसाल के तौर पर, मुझसे कहा गया—'फ्राण्टियर क्राइम्स रेग्युलेशन जो तुम्हारे प्रान्त में जारी है वह तो रौलटबिल से भी बुरा है; जब उसीके खिलाफ़ पठान लोग कोई आन्दोलन नहीं करते, तो फिर

रौलटबिल के विरुद्ध आन्दोलन में तुम्हारा शरीक होना कहाँतक ठीक है ? इसके अलावा, जबकि ब्रिटिश भारतने अभीतक पठानों के प्रति कोई सहानुभूति शायद ही कभी दिखाई होगी, पठान ब्रिटिश भारत के बेवफ़ा लोगों के लिए किसी ख़तरे में पड़ने को क्यों उत्सुक हों ?' परन्तु इन दोनों ही दलीलों का मुझपर कोई असर नहीं हुआ। मैं दृढ़ रहा। तब इसके सिवा और क्या हो सकता था कि कुछ अन्य मित्रों के साथ मैं गिरफ़्तार कर लिया जाऊँ ?"

"क्या आप बतलायेंगे कि आपकी इस पहली गिरफ़्तारी के समय आपके साथ कैसा व्यवहार किया गया ?" मैंने पूछा।

"क्यों नहीं ? मैं कोई मामूली क़ैदी नहीं बल्कि एक बहुत बड़ा ख़तरनाक क़ैदी समझा गया। हथकड़ियाँ डालकर मैं जेल ले जाया गया और जबतक मैं जेल में रहा मेरे पैरों में बेड़ियाँ पड़ी रहीं। उस समय आज से दूना मेरा डील-डौल था और २२० पौण्ड (पौने तीन मन) मेरा वज़न था, अतः मेरे पैरों के लायक़ बेड़ियाँ ही वहाँ नहीं थीं। यह तो मुझे नहीं मालूम कि मेरे लिए ख़ास तौर पर बेड़ियाँ बनवाई गई थीं या नहीं, पर उन्हें प्राप्त करने में दिक़्क़त काफ़ी उठानी पड़ी, और बाद में जब मेरे बेड़ी डाली गई तो टख़नों के ऊपर के सारे भाग से ख़ूब ख़ून बहने लगा। लेकिन यह ज़ाहिर था कि उसकी अधिकारियों को कोई चिन्ता नहीं थी, बल्कि उन्होंने तो यह कहा कि मुझे इसका आदी बनते ज़्यादा देर नहीं लगेगी ! लेकिन यही काफ़ी नहीं था, इसलिए मुझे एक दूसरे भयानक कार्य में फँसाने का प्रयत्न किया गया। मेरे गाँव के

एक पठान पर टेलीग्राफ़ के तार काटने का इलज़ाम लगाया गया था और मुक़दमा चलाकर इसमें उसे सज़ा भी कर दी गई थी। उससे पूछा गया कि वह मुझे जानता है या नहीं ? उसने बताया कि वह मुझे जानता है और मेरी पुकार पर ही वह आन्दोलन में शरीक हुआ था। 'अच्छा तब ?' उससे पूछा गया, 'उसीने न तुम्हें तार तोड़ने के लिए उकसाया ?' इसपर उसने ज़ोर के साथ 'ना' कहा।"

"परन्तु," मैंने कुतूहल के साथ पूछा, "इस बीच बड़े भाई (डा० ख़ान साहब) का क्या हाल था ?" उन्होंने बताया कि लंडन के सेण्ट टामस हास्पिटल से एम० आर० सी० एस० की डिग्री हासिल करके वह लड़ाई में चले गये थे। युद्ध के बाद जब वह फ्रान्स में तैनात थे, उस समय यहाँ आन्दोलन उठा। लेकिन यहाँ का एक भी पत्र उनके पास नहीं पहुँचा। उन्होंने यहाँ वापस आने की कोशिश की, परन्तु छः महीने तक लंडन में प्रतीक्षा करने के बाद तब कहीं जाकर १९२० में उन्हें आने की आज्ञा मिली। इस प्रकार जब उनके पिता तथा भाई आदि रिश्तेदार यहाँ जेल में थे, वह फ्रांस में अंग्रेज़ों की नौकरी बजा रहे थे और उन्हें जान-बूझकर हिन्दुस्तान की घटनाओं से अनभिज्ञ रक्खा जाता था। यहाँ लौटने पर भी, बड़ी मुश्किलों से उन्हें अपनी जगह से पद-त्याग करने की इजाज़त मिली। इसके बाद बड़े भाई तो डाक्टरी का धन्धा करने लगे और छोटे भाई कांग्रेस तथा उसके कार्य में अधिकाधिक दिलचस्पी लेने लगे। "कष्ट-सहन के स्कूल में सीखने को बहुत-कुछ मिलता है," यह कहते हुए एक बार बातचीत में उन्होंने गाँधीजी से कहा, "महात्माजी ! मैं कभी कभी यह सोचता हूँ कि

अगर मैंने आरामतलबी की ज़िन्दगी बिताई होती और जेल के आनन्द तथा उसकी सब सख़्तियों की परीक्षा का मौक़ा मुझे न मिला होता, तो न-जाने मेरा क्या हाल हुआ होता। पहली और दूसरी बार गिरफ़्तार होने पर क्या-क्या यातनाएँ मुझे सहनी पड़ीं। मगर इस बात के लिए मैं ख़ुदा का बहुत शुक्रगुज़ार हूँ कि मेरे इस जीवन की शुरुआत में ही उसने ऐसे सख़्त अनुशासन का मौक़ा देकर मुझे उसका आदी बना दिया।"

ख़ानसाहब १९२० की नागपुर-कांग्रेस में शरीक हुए थे और ख़िलाफ़त-आन्दोलन में उन्होंने प्रमुख भाग लिया था, परन्तु बाद में उसके प्रान्तीय संगठन के सभापतित्व से इस्तीफ़ा देकर मुहाजरीन का उन्होंने नेतृत्व किया था, जिनको अफ़गानिस्तान जाकर लौटने में अकथनीय कष्ट उठाने पड़े थे। "मेरे वृद्ध पिता, जो उस समय क़रीब नव्वे वर्ष के थे, वह भी उस दल (मुहाजरीन) में शामिल होने को उत्सुक थे," बड़े भाई ने मुझसे कहा, "परन्तु मैंने बीच में पड़कर उनसे आग्रह किया कि अपने स्वास्थ्य के लिए नहीं तो कम-से-कम बाप-दादों की मिलकियत के लिहाज़ से ही वह ऐसा न करें। उनका शरीर हम सबसे हट्टा-कट्टा था और उस समय भी वह काफ़ी दूरतक पैदल घूम-फिर सकते थे, इसलिए बड़ी मुश्किल से उन्हें इस इरादे से रोका जा सका।" इस दुःसाहस की तफ़सील में जाने की मुझे ज़रूरत नहीं, इसका उल्लेख तो वृद्ध पिता के वीरतापूर्ण निश्चय और उस कष्ट-सहन के कारण ही करना पड़ा है, जो उसकी वजह से छोटे भाई तथा उनके अन्य साथी यात्रियों को बर्दाश्त करना पड़ा था।

१९२१ में फ्राण्टियर रेग्युलेशन ऐक्ट की सर्वशक्तिमान ज़मानती धारा ४० के मातहत ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ फिर जेल जा पहुंचे। इस संबंध की घटनाएँ उल्लेख-योग्य हैं। नागपुर-कांग्रेस से लौटकर उन्होंने रचनात्मक कार्य की नींव डाली थी। इसके लिए उन्होंने अपने गाँव उतमानज़ई में एक राष्ट्रीय स्कूल स्थापित किया और प्रान्त भर में उसकी शाखाएँ खोलने का प्रयत्न किया। सविनय अवज्ञा या सत्याग्रह का तो कोई सवाल ही नहीं था, उन्हें तो रचनात्मक कार्य-क्रम का यह भाग बहुत पसन्द आया और इसकी पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी शक्ति लगादी। परन्तु अधिकारियों के चौंकने के लिए यही बहुत था। ज़िलों में उनके दौरा करने पर आपत्ति करके इसके लिए उनसे ज़मानत माँगी गई, पर उन्होंने ज़मानत देनेसे इन्कार किया। चीफ़ कमिश्नर सर जान मफ़ी ने पिता को यह समझाने की कोशिश की, कि वह अपने पुत्र से स्कूल बन्द कर देने को कहें। ख़ान-पिता से चीफ़ कमिश्नरने कहा कि यह काम अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ है। 'जब कि और कोई इसमें दिलचस्पी नहीं ले रहा है, आपका पुत्र ही क्यों इस स्कूल की स्थापना करने में लगा हुआ है ?' उन्होंने पिता से कहा। तब ख़ान-पिता ने अपने बेटे से इस बारे में बातचीत की, लेकिन बेटेने इस तरह जवाब दिया कि उन्हें सन्तोप हो गया। "पिताजी !" उन्होंने कहा, "फ़र्ज़ कीजिए कि और सब लोग नमाज़ में दिलचस्पी लेना छोड़ दें, तो क्या आप मुझसे भी नमाज़ छोड़कर अपना फ़र्ज़ भूल जाने के लिए कहेंगे, या दूसरे लोग तिरस्कार करें तो भी मुझे अपना मज़हबी फ़र्ज़ अदा करते रहने को कहेंगे ?"

"कभी नहीं," पिताने कहा, "दूसरे लोग चाहे जो करें, मगर तुम्हें अपने मज़हबी फ़र्ज़ छोड़ देने के लिए मैं हर्गिज़ नहीं कहूँगा।"

"तो पिताजी! राष्ट्रीय शिक्षा का यह काम भी उसी तरह का है। अगर नमाज़ छोड़ी जा सकती हो, तो स्कूल भी छूट सकता है; नहीं तो जैसे नमाज़ नहीं छोड़ी जा सकती, उसी तरह स्कूल का काम भी बन्द नहीं किया जा सकता।"

"अब मैं समझ गया," पिताने कहा, "तुम ठीक कहते हो।" और इस प्रकार सर जान की वह योजना असफल हो गई, जिसके फलस्वरूप पठान बालकों को अपने ढंग पर शिक्षा देने के अपराध में खान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ को तीन साल सख़्त क़ैद की सज़ा हुई।

इस सज़ा के बीच जो तकलीफ़ें उन्हें बर्दाश्त करनी पड़ीं, उन्होंने उस दीक्षा को सम्पूर्ण कर दिया जो कि १९१९ में ख़ान साहबने ग्रहण की थी। उसकी कहानी बहुत ही हृदयस्पर्शी है। कालकोठरी, महीनों तक पाँवों में बेड़ियाँ, जेल की पिसाई, और क्या-क्या उन्होंने नहीं सहा? यहाँतक कि सख़्तियों के कारण वह बहुत ही कमज़ोर हो गये। ५५ पौण्ड उनका वज़न कम हो गया और रक्तपित्त तथा कमर-दर्द सदा के लिए उनके साथी बन गये। लेकिन परीक्षा ज्यों-ज्यों कठोर होती गई त्यों-त्यों ही उनकी राष्ट्रीय भावना और भी जाज्वल्यमान हुई। उनको डिगाने के लिए धमकी और प्रलोभन दोनों ही एक के बाद एक उपयोग में लाये गये, परन्तु सब व्यर्थ। एक बार तो सर जान मैफ़ी ने खानबहादुर अब्दुररहीमख़ाँ के द्वारा उनके पास यह सन्देशा भी भेजा कि उन्हें उतमानज़ई के स्कूल पर कोई आपत्ति नहीं है, वह

तो यही चाहते हैं कि ख़ानसाहब गाँवों का दौरा न करने की बात मंज़ूर करलें। अगर वह ऐसा करें तो उन्हें शीघ्र छोड़ दिया जायगा। परन्तु कहने की ज़रूरत नहीं कि ख़ानसाहब ने इस बात को स्वीकार नहीं किया।

अब मैं इस जेल-वास के नैतिक तथा आध्यात्मिक पहलू पर कुछ विस्तार से विचार करूंगा। उनके अनुभव की कुछ कहानियों को मैंने सिर्फ़ उनकी वीर-भावना के लिए ही नहीं सराहा है, बल्कि जिस आदर्श रूप में उन्होंने अपना जेल-जीवन व्यतीत किया उसके लिए मैंने मन-ही-मन उनकी प्रशंसा की है। अपने जेल-जीवन में वह एक आदर्श क़ैदी थे। जेल-अनुशासन के वह बड़े पाबन्द थे। वह न तो किसीसे रियायत की आशा रखते और न किसी का अहसान स्वीकार करते, न अपने सिद्धान्त से ही डिगते थे। ऐसे भी अफ़सर वहाँ हुए, जो क़ानून को ढीला कर उनके साथ कुछ रियायत करना चाहते थे, पर ख़ानसाहब ने उनसे आज़िज़ी के साथ कहा कि वे ऐसा न करें। सज़ायाफ़्ता ग़रीब वार्डर भी वहाँ ऐसे मौजूद थे, जो ख़ुशी-ख़ुशी उनका काम करके तथा अन्य प्रकार उनकी कठिनाइयाँ कम करने को तैयार थे। परन्तु सबको वह नम्रता के साथ यही चेतावनी देते, कि "मैं आपसे बिलकुल स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मैं झूठ नहीं बोल सकता।" छोटी-मोटी बहुत-सी बुराई-बेईमानी आज की ही तरह तब भी जेलों में जारी थी। ख़ानसाहब को वह पसन्द नहीं थी और क़ैदियों से वह कहा करते थे कि मैं इससे बचना चाहता हूँ। यहाँतक कि बेचारे ग़रीब सिपाहियों तक

को उन्होंने यही सलाह दी कि वे इस बुराई से बचें। "अगर मैं ऐसा न करूँ तो मेरा गुज़र होना ही संभव नहीं मालूम पड़ता," एक बार एक आदमी ने बड़ी दीनता से उनसे कहा। ख़ानसाहब ने कहा, "यह तो मैं नहीं कहूंगा कि तुम क्या करो, परन्तु यह कह सकता हूँ कि तुम जो कर रहे हो वह बुरा और अनैतिक है।" फलतः उस आदमी ने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। यह ऐसी बात थी, जिसे अधिकारीगण नहीं सह सकते थे। इसमें कोई राजनीतिक बात तो नहीं थी, पर मतलबी लोगों ने इसका राजनीतिक अर्थ भी लगा लिया। हालांकि यह था तो ख़ानसाहब का नैतिक प्रभाव ही, फिर भी उन लोगों ने यह ख़याल किया कि जेल इसके लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। तब अपने प्रान्त से हटाकर उन्हें पंजाब के एक जेल में भेज दिया गया, जहाँ सौभाग्यवश उन्हें अन्य राजनीतिक क़ैदियों के साथ ही रक्खा गया। यहाँ भी इस आदर्श क़ैदीने अपना जीवन बिलकुल अनुशासनपूर्ण रक्खा। नतीजा यह हुआ कि जिस बात को सरहदी जेलों में जेल-अधिकारियों ने बर्दाश्त करना मुश्किल पाया, पंजाब की जेल में उनके साथी क़ैदियों को भी उसे पसन्द करना कठिन मालूम हुआ। लेकिन उन्हें ऐसी कोई वजह न दिखाई दी, जो वह अपने व्यवहार में परिवर्त्तन करते। उन्होंने मुझसे कहा, "एक बार अपने आत्म-सम्मान को दबाया नहीं कि, जो लोग किसी के अहसान में आकर चोरी-चुपके चीज़ें मँगाना गम्भीर बात नहीं समझते, अन्त में उन्हें अपने आत्म-सम्मान को बिलकुल ही गँवा बैठना पड़ता है।" किन्तु आध्यात्मिक अनुभव तो पंजाब की इस जेल में भी उन्हें ख़ूब हुए।

हिन्दू और सिक्ख मित्रों के साथ अपना स्थायी सम्बन्ध स्थापित करके यहाँ उन्होंने उनके धर्म एवं संस्कृतियों का अध्ययन शुरू कर दिया। "गीता पहली बार मैंने यहाँ पढ़ी," उन्होंने मुझसे कहा, "और साथ ही ग्रन्थसाहब व बाइबल को भी पढ़ा। मैंने सोचा कि कम-से-कम इतना तो इन धर्मवालों के प्रति मुझे अपना फ़र्ज़ अदा करना ही चाहिए। क्योंकि अगर उनके ग्रन्थों का मुझे ज्ञान न हो तो मैं न तो ठीक तरह से उनको समझ सकता हूं और न उनकी दोस्ती की ही क़द्र कर सकता हूँ। लेकिन मैं यह ज़रूर कहूँगा कि उस समय गीता मुझे अपने बस के बाहर की चीज़ मालूम पड़ी। मैंने बार-बार उसे पढ़ा; पर उस वक्त शायद उसको समझने के लायक़ बुद्धि मुझमें नहीं थी। या उसे ग्रहण करने की मुझमें ताक़त न होगी। दरअसल तो अंडमान से आनेवाले पं० जगतराम ने १६३० में मुझे गीता पढ़ाई। उन्हें गीता के लिए बड़ी भक्ति थी और उन्होंने मेरा भी उसमें प्रवेश करा दिया।" 'सरहदी गाँधी' नाम भी, जिसका व्यवहार उनके मित्र तो उनकी प्रशंसा में प्रेम के साथ, तथा थोड़ा-बहुत उनके 'शत्रु' भो, करते हैं, इसी समय पड़ा मालूम होता है। उन्होंने गाँधीजी की जीवनी बड़े ध्यान से पढ़ी थी। इस कारावास के समय वह न सिर्फ़ हर हफ़्ते एक उपवास ही करते, बल्कि प्रति सप्ताह एक दिन मौन भी रहते थे। यही बात उनको यह ख़िताब दिलाने के लिए काफ़ी थी, हालांकि जैसे धर्मांध सनातनियोंने गाँधीजी पर मनमाने आक्षेप करने में कोई कसर नहीं रक्खी है उसी प्रकार उनकी जाति के कट्टर लोगों ने भी उनपर 'हिन्दू' हो जाने के आक्षेप कर डाले हैं।

१६२४ से १६२६ तक के सबसे बुरे दिनों में भी, अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम तनातनी के समय भी, वह उस समय की विग्रह पैदा करनेवाली भावनाओं के चक्कर में नहीं पड़े। संकीर्ण साम्प्रदायिक ढंग की सारी हलचलों से उन्होंने अपनेको बिलकुल अलग रक्खा, और उन घटनाओं का उल्लेख न करते हुए यह कहा जा सकता है कि उनके जीवन में ऐसे अवसर आये हैं कि जब उन्होंने उस बहती लहर में पड़ने से साफ़ इन्कार कर दिया। "मैं आपसे कहूँ", एक बार काफ़ी संवेदना के साथ ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ ने मुझसे कहा, "आदमियों की तादाद से मैं किसी धर्म की ताक़त का अन्दाज़ा नहीं लगाता। क्योंकि वह धर्म ही क्या है, जबतक वह जीवन में आचरित न हो? अन्तरतम से मेरा यह विश्वास है कि अमल, यक़ीन, मुहब्बत (सदाचार, श्रद्धा, प्रेम) ही इस्लाम है; इनके बग़ैर अपनेको मुसलमान कहना खोखला दावा है। क़ुरान-शरीफ़ में यह बिलकुल साफ़ कर दिया गया है कि मनुष्य को मोक्ष पाने के लिए यही काफ़ी है कि वह एक ही ईश्वर में अपनी श्रद्धा रक्खे और सत्कर्म करे।"

इतने पर भी वह किसी कट्टर मुसलमान से कम मुसलमान नहीं हैं। नमाज़ के वह इतने पाबन्द हैं कि मैं नहीं समझता कभी एक नमाज़ भी उन्होंने छोड़ी होगी, और बन्धुत्व की भावना उनमें इतनी स्वाभाविक है कि जितनी अपनेको कट्टर कहनेवाले बहुत-से हिन्दू-मुसलमानों में भी नहीं होगी। बड़े भाई ने अनेक वर्ष विदेशों में व्यतीत किये हैं और, जैसा कि वह कहते हैं, भिन्न-भिन्न मुल्कों और मज़हबों के लोगों से उनकी मित्रता है, इसलिए उनमें

वैसी धार्मिकता तो नहीं है, मगर अपने पिता की धार्मिक भावना की विरासत उन्होंने भी छोटे भाई से कम नहीं पाई है। मज़ाक़ में अकसर वह कहा करते हैं, कि 'मेरा भाई मेरी ओर से भी नमाज़ पढ़ लेता है,' परन्तु प्रत्येक सच्चे धर्म में जो उदार भावना विद्यमान है उसके विरुद्ध कोई बात कही जाने पर उन्हें बहुत चोट लगती है। एक बार एक मुसलमान द्वारा प्रकाशित एक बहुत कट्टर साप्ताहिक पत्र का एक 'कटिंग' मैंने इन भाइयों को दिखलाया, जिसमें गांधीजी के उपवास पर आक्रमण था। मैंने पूछा—क्या, जैसा कि उसमें लिखा है, सिवा उस तरह के कट्टर उपवास के, कि जैसा आजकल मुसलमानों में प्रचलित है, और किसी उपवास की इस्लाम में इजाज़त नहीं है? इसपर उन्होंने कहा कि "कट्टर उपवास से क्या मुराद है, पहले यह तो हम जानें।" मैंने बतलाया कि उस लेखक की राय में इस्लाम के अनुसार सच्चा उपवास वही है, जिसमें दिन के समय तो कुछ भी न खाया-पिया जाय पर सूर्यास्त से सूर्योदय के बीच व्रत खोल लिया जाय। "वाहियात!" छोटे भाई ने कुछ आवेश के साथ कहा, "मैंने तो ख़ुद ही पिछले अगस्त में जब गांधीजी ने उपवास किया था तो उन सातों दिन पूरा उपवास रक्खा था। शाम के वक़्त सिर्फ़ नमक और पानी मिलाकर पीता था। यह कहना इस्लाम का मज़ाक़ उड़ाना है कि अधिकांश मुसलमान जिस तरह उपवास करते हैं सिर्फ़ वही सच्चा उपवास है। पैग़म्बर साहब ने पूरे दिन-रात के उपवास किये थे। सूर्यास्त के बाद खाना खाने की उन्होंने जो इजाज़त दी, मेरा ख़याल है, वह मनुष्य की कमज़ोरी का लिहाज़ करके ही दी गई है। पैग़म्बर

साहब को तो खाने की कोई ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि जैसा कि उन्होंने कहा है, अल्लाह उन्हें वह आध्यात्मिक भोजन भेज देता था जो श्रद्धाहीन मनुष्यों को प्राप्त नहीं हो सकता। इस अख़बार की आलोचना तो वैसी ही है जैसे एक अख़बार ने मुझे इसलिए हिन्दू साबित करने की कोशिश की कि मैंने गीता का अध्ययन किया था और हफ़्ते में एक दिन मैं मौन रखता था।"

४

धार्मिक विचार

अब हम इन भाइयों के धर्म-विश्वास पर दृष्टि डालेंगे। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही के लिए यह जान लेना बहुत ज़रूरी है कि इन भाइयों का असली महत्व किस बात में है और हिन्दू-मुस्लिम एकता के सच्चे प्रचारक वे क्यों हैं। इत्तफ़ाक़ से एक दिन गांधीजी डा० ख़ानसाहब की अंग्रेज़ पत्नी के बारे में कुछ पूछताछ कर रहे थे। उन्होंने दर्याफ़्त किया, कि क्या वह मुसलमान हो गई हैं? "आपको आश्चर्य होगा कि", छोटे भाईने कहा, "वह मुसलमान हैं या ईसाई, यह मैं कुछ नहीं कह सकता। मैं तो सिर्फ़ यह जानता हूँ कि उनका धर्म-परिवर्तन कभी नहीं हुआ, और जो-कुछ भी उनका धर्म-विश्वास हो उसपर अमल करने के लिए वह पूरी तरह आज़ाद हैं। पर इसके बारे में उनसे पूछताछ मैंने कभी नहीं की—और, मैं पूछ-

ताछ करता भी क्यों ? पति-पत्नी हरेक अपने-अपने धर्म-विश्वास पर दृढ़ क्यों न रहें ? भला विवाह से उनके धर्म-विश्वास क्यों बदल जाने चाहिए ? आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मेरे भतीजे (डा० ख़ानसाहब के पुत्र) ने, जिसने अभी लण्डन की मॅट्रिक-परीक्षा पास की है और अब आक्सफ़र्ड जाने की सोच रहा है, अपने एक पत्र में हमें लिखा है कि वहाँ के लड़के उसे ईसाई समझते हैं और वह नहीं जानता कि उन्हें क्या जवाब दे !"

"समझा !" गांधीजीने काफ़ी आश्चर्य के साथ कहा, "आपने अपनी भावज के बारे में जो कहा उसपर मुझे आश्चर्य तो हुआ पर मुझे वह बात पसन्द है। लेकिन और मुसलमान क्या कहते हैं ? बहुतों के विचार आपके से तो न होंगे।"

"नहीं, मैं इस बात को जानता हूँ कि वे ऐसा नहीं समझते। पर इससे क्या, इस्लाम की सच्ची भावना तो लाख में एक भी नहीं जानता। हमारे अधिकांश लड़ाई-झगड़ों की तह में यही बात है और दोनों ओर के स्वार्थी लोगों ने तास्सुब और क्रोध के अंगारों में घी की आहुति दे उन्हें और प्रज्वलित ही किया है। हमारा कितना अधिक अधःपात हो गया है ! १९३० में जब मैं गुजरात-जेल में था, मैंने अपने हिन्दू-भाइयों के साथ घनिष्ठता बढ़ाने का निश्चय किया। हमने तय किया कि एक-दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए हमें गीता और कुरान की क्लासें (कक्षाएँ) खोलनी चाहिएँ, जिनका हरेक का संचालन ऐसे व्यक्तियों-द्वारा हो जो पूर्ण ज्ञान और अधिकार के साथ इन्हें पढ़ा सकें। कुछ समय तक

तो ये क्लासें चलती रहीं, पर अन्त में गीता-क्लास में मेरे सिवा और कुरान-क्लास में एक अन्य विद्यार्थी के सिवा, कि जिसका नाम मैं अब भूल गया हूँ, और किसीके न रहने से उन्हें बन्द कर देना पड़ा। साथ ही इसके लिए हमें घृणा का शिकार होना पड़ा वह अलग। मैं तो तिरस्कार के साथ 'हिन्दू' कहा जाने लगा और वह मित्र 'मुसलमान'! मगर गीता की पढ़ाई मैंने बराबर जारी रक्खी और तीन बार पूरी पढ़ गया। मैं समझता हूँ कि हमारे लड़ाई-झगड़ों का असली कारण हमारा इस बात को न समझना ही है कि जितने भी धर्म हैं उन सबमें अपने अनुयायियों को अनुप्राणित करने की शक्ति विद्यमान है। कुरान में बार-बार यह बात कही गई है कि खुदा ने सब देशों और वहाँ के बाशिन्दों के लिए मसीह और पैग़म्बर भेजे हैं और वही उनके अपने-अपने ईश्वर हैं। हम सब अहले-किताब हैं, और हिन्दू भी उससे कुछ कम अहले-किताब नहीं हैं जितने कि यहूदी व ईसाई हैं।"

"लेकिन कट्टर मुसलमान तो ऐसा नहीं मानते ?"

"मैं यह जानता हूँ। लेकिन इसकी वजह यही है कि उन्हें क़ुरान-शरीफ़ में हिन्दुओं और उनके धर्मग्रन्थों का उल्लेख नहीं मिलता, क्योंकि उसमें दी गई सूची तो केवल निदर्शक है, विस्तृत नहीं। क़ुरानशरीफ़ में तो यह सिद्धान्त-मात्र दिया हुआ है कि वे सब 'अहले किताब' की श्रेणी में आते हैं जिन्होंने धर्म-ग्रन्थों की रचना की है, और मुझे इस बारे में कोई शंका नहीं कि जिन्होंने अपने धर्माचरण के बारे में ग्रन्थों की रचना की उन सबका इसमें समावेश हो जाता है। यही नहीं, मैं तो इससे भी आगे बढ़कर यह भी कहूँगा कि मूल

सिद्धान्त सब धर्मों में वही हैं, अलबत्ता तफ़सील की बातें एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि जिस भूमि में जिस धर्म का उद्भव हुआ वहाँ के वातावरण का उसपर असर पड़ा है।

"एक सीधा-सादा दृष्टान्त लें। इस्लाम और हिन्दू-धर्म दोनों ही सफ़ाई पर सबसे ज़्यादा ज़ोर देते हैं। जहाँतक सफ़ाई का सवाल है उनमें कोई फ़र्क़ नहीं है, न होही सकता है। पर उसके आचरण में भिन्नता है। इस्लाम में सूखी दतौन का इस्तैमाल बताया गया है, जब कि हिन्दू-धर्म में ताज़ी हरी दतौन करने का आदेश है। हिन्दू-धर्म रोज़ या कई बार नहाने पर ज़ोर देता है, जब कि इस्लाम हफ़्ते में कम-से-कम एक बार नहाने को कहता है। ये उदाहरण क्या साबित करते हैं? इनसे यही ज़ाहिर होता है कि हिन्दू-धर्म गंगा से सींची हुई भूमि में उत्पन्न हुआ जहाँ पानी की कोई कमी न थी, और इस्लाम ऐसी मरु भूमि में पैदा हुआ जहाँ कभी-कभी कई दिनों तक एक बून्द पानी भी नहीं मिलता। अतः इसका यह अर्थ नहीं कि मुसलमान रोज़ नहाये या ताज़ी दतौन करे तो वह इस्लाम के विरुद्ध आचरण होगा। भिन्न-भिन्न धर्मवालों के आचरण में जो अन्तर है उसका इससे अधिक कोई अर्थ नहीं कि हरेक धर्म अपनी-अपनी विशेष भूमि में पैदा हुआ है। इसलिए मैं किसी के धर्म-विश्वास में विक्षेप डालने के पक्ष में नहीं हूं। सारे संसार में एक ही धर्म हो, ऐसे समय की मैं कल्पना नहीं कर सकता। मेरे ख़याल में तो हरेक जाति को अपने ही धर्म-विश्वास से प्रेरणा लेनी होगी और एक जाति का दूसरी के धर्म-विश्वास में रुकावट डालने का प्रयत्न बिलकुल व्यर्थ है।"

लेकिन, उक्त बातों पर से यह न समझना चाहिए कि ये भाई विभिन्न जातियों को बिलकुल अलग-अलग रखने के पक्ष में हैं। ऐसा समझना तो बड़ी भारी भूल होगी।

"हिन्दू पानी, मुसलमानी पानी, हिन्दू चाय और मुसलमानी चाय की आवाज़ें मुझे हैरान कर देती हैं," हर जगह इस बात को दोहराते हुए वे नहीं थकते और कहते हैं, "भला, हिन्दू-मुसलमान को एक-दूसरे के बर्तन से साफ़ पानी पीने में कोई एतराज़ क्यों होना चाहिए ?"

लेकिन ख़ानसाहब अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ इस बात पर और किसीसे कम ज़ोर नहीं देते कि जैसे और बातों में वैसे ही इस विषय में भी ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं की जा सकती। ख़ानसाहब अन्य लोगों के भावों का कितना ख़याल रखते हैं, यह बताने के लिए मैं यहाँ १६२२ की एक घटना का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता। उन दिनों वह डेराग़ाज़ीख़ाँ की जेल में थे। वहाँ सिर्फ़ इस ख़याल से उन्होंने छै महीने से अधिक समय तक गोश्त नहीं खाया कि इससे गोश्त न खानेवाले क़ैदियों का जी दुखेगा। इससे उनका स्वास्थ्य काफ़ी गिर गया और डाक्टर ने ज़ोर देकर कहा कि अगर आपको अपने स्वास्थ्य को बनाये रखना है और अपने दाँत खो नहीं देने हैं, तो गोश्त भी खाइए। आख़िर बड़ी अनिच्छापूर्वक वह गोश्त खाने को तैयार हुए, लेकिन तब गोश्त पकने का सवाल उठा। सुपरिन्टेन्डन्ट ने कहा कि आम रसोई में ही पकाया जाय, पर ख़ानसाहब ने कहा—'आम रसोई में गोश्त पकवाकर अपने निरामिषभोजी भाइयों के दिलों को मैं चोट नहीं पहुँचाना चाहता, इससे तो यही अच्छा है कि मैं गोश्त न खाऊँ।'

तब सुपरिण्टेन्डन्ट को एक पृथक् रसोई में गोश्त पकाने की इजाज़त देनी पड़ी। अपने मित्रों के भावों का ख़याल रखने ही के कारण १६३१ में जब श्री देवदास गाँधी उनके मेहमान थे तो उस तमाम समय उन्होंने अपने घर में गोश्त पकाने की बिलकुल मनाही करदी थी। लेकिन साथ ही उनका यह भी ख़याल है, और वह ठीक ही है, कि इसी प्रकार हिन्दुओं को भी मुसलमानों के रीति-रिवाजों का ख़याल रखना चाहिए। पर कितने दुःख की बात है कि १६२२ में डाक्टरी सलाह पर जब उन्हें गोश्त खाना शुरू करना पड़ा तो कुछ सिक्ख और हिन्दू मित्र उसे बर्दाश्त न कर सके थे! यह असहिष्णुता ही सच पूछो तो हमारी रुकावट है। उन्होंने न जाने कितनी बार यह बात मुझसे कही है कि "जबतक एक-दूसरे की भावनाओं के प्रति हमारी सहानुभूति न हो तबतक हम हिन्दू-मुस्लिम एकता हर्गिज़ नहीं कर सकते।"

परन्तु मौजूदा स्थिति कैसी ही क्यों न हो, हमारे चारों ओर कितना ही अन्धेरा क्यों न हो, हिन्दू-मुस्लिम एकता में इन भाइयों का विश्वास अटल है। उन्हें इस बात में कभी भी सन्देह नहीं हुआ कि हिन्दू-मुस्लिम एकता होकर रहेगी और इसके लिए दोनों जातियों के नेताओं को अपना सब-कुछ क़ुरबान करना पड़ेगा।

"जब हम······गये," छोटे भाई ने कहा, "तो मस्जिद के मौलवी-साहब ने हिन्दू-मुसलिम एकता का प्रचार करने के कारण मुझे ख़ूब आड़े हाथों लिया। 'क्या व्यर्थ प्रयत्न!' उन्होंने कहा, 'वे सब बुतपरस्त (मूर्त्तिपूजक) हैं, उनके साथ हम कोई रसूख़ कैसे रख सकते हैं? मालूम पड़ता है, तुम तो इस्लाम की शिक्षा के ही विरुद्ध जा रहे हो।'

मैंने कहा, 'अगर वे बुतपरस्त हैं, तो हम भी क्या बुतपरस्त नहीं हैं? मक़बरों की पूजा और क्या है? भला वे ईश्वर के कम भक्त कैसे हो सकते हैं, जबकि मैं जानता हूँ कि एक ही परमात्मा में उनका विश्वास है? और हिन्दू-मुस्लिम एकता से आपको इतनी निराशा क्यों? सच्चा प्रयत्न कोई व्यर्थ नहीं जाता। इन खेतों को ही देखिए। इनमें बोये हुए नाज को कुछ समय तक ज़मीन के अन्दर रहना पड़ता है, तब इसमें अंकुर निकलते हैं और ठीक समय पर वैसा ही सैकड़ों गुना नाज पैदा हो जाता है। यही बात उस हरेक जतन की है, जो किसी अच्छे काम के लिए किया जाता है।"

एक अन्य स्थान पर यही बात एक मुसलमान सम्पादक ने भी उनसे जाकर कही, यद्यपि उसका ढंग कुछ भिन्न था। उसने कहा—"भला बालू में हल चलाने से क्या लाभ? इन हिन्दुओं पर तो हर्गिज़ भरोसा नहीं किया जा सकता। शिवाजी को क्या तुम नहीं जानते?" पर बड़े भाई को उसे आड़े हाथों लेते कोई कठिनाई नहीं हुई। "तो आप समझते हैं कि आप शिवाजी को जानते हैं? अगर कोई हिन्दू औरंगज़ेब पर हर तरह का दोषारोपण करते हुए कहे कि इसलिए मुसलमानों पर हिन्दू विश्वास नहीं कर सकते, तो आप क्या कहेंगे? मेरे दोस्त! शिवाजी और औरंगज़ेब दोनों ही मर चुके, अब हमें भी उनकी फ़िक्र करना छोड़ देना चाहिए। अब तो आप यह कहिए कि महात्मा गाँधी के बारे में आपका क्या ख़याल है? जबतक आप यह समझते हैं कि उनपर विश्वास किया जा सकता है, तबतक सब ठीक है। इसी प्रकार जबतक हम दोनों विश्वस्त हैं, हम हिन्दुओं से

अपनेपर भरोसा करने को कह सकते हैं। यह ख़याल रखिए कि किसी जाति के बारे में उसके सबसे बुरे आदमियों को देखकर नहीं बल्कि उनपर से निर्णय करना चाहिए कि जिन्हें आप उसमें सर्वोत्तम समझते हों।"

"महात्माजी! हमने तो आपके हरिजन-आन्दोलन के बारे में भी लोगों को सन्देह प्रकट करते हुए देखा है।" एक बार छोटे भाई ने कहा, "यहाँतक कि यरवड़ा-पॅक्ट और आपके २१ दिनों के उपवास के बारे में भी ग़लतफ़हमी है और हमसे कहा गया है कि आप साम्प्रदायिक बन गये हैं। परन्तु ऐसी किसी आलोचना को हमने कभी आश्रय नहीं दिया। क्योंकि आपका आन्दोलन तो शुद्ध मानवता के भावों से प्रेरित है और किसी धर्म के अनुयायियों के लिए यह आवश्यक है कि अपने सहधर्मी अन्य भाइयों को वे अस्पृश्य न मानें। महात्माजी! आपको याद होगा कि इस बारे में हमने आपको एक तार भेजा था। मगर आपका भेजा हुआ जवाब हमें काफ़ी देर बाद दिया गया था।" और दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। उन्होंने न केवल उपवास की ही तारीफ़ की, बल्कि गोश्त छोड़ देने का वीर-व्रत भी उन्होंने ले लिया, और तबसे उन्होंने जेल में मांस को छुआ तक नहीं। यही नहीं, बल्कि जेल से बाहर भी उन्होंने अपनी इस आदत को बनाये रक्खा है, सिवा उन मौक़ों के कि जब वे ऐसी जगह पहुँच जाते हैं कि वहाँ गोश्त बना हो और बिना किसी पूर्व-सूचना के अचानक उन्हें खाना खाना पड़े। छोटे भाई ने तो और भी एक क़दम बढ़ाया है। गाँधीजी के पिछले उपवास के समय तो

उन्होंने उपवास रक्खा ही, परन्तु इसके साथ स्वेच्छा से आत्मत्याग के व्रत में एक चीज़ की संख्या और बढ़ाली। जिस चाय के वह बड़े शौक़ीन थे, उसका पीना उन्होंने छोड़ दिया। "अपने चाय के वक्त जब भी मुझे चाय न मिलती, मेरे सिर में दर्द होने लगता, और जब भी मैं चाय पीता तो ख़ूब पीता था, परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि जब मैं उपवास करता हूँ तब मुझे उसका बिलकुल ख़याल नहीं आता। अतः उसे छोड़ने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं हुई।"—उन्होंने एक दिन मुझसे कहा। परन्तु बड़े भाई को अपने छोटे भाई के स्वास्थ्य की चिन्ता है, और वह अक्सर उनके आत्मत्याग के विरुद्ध आवाज़ उठाया करते हैं। और यह बिलकुल स्वाभाविक है, क्योंकि जहाँ १६१६ में उनका वज़न २२० पौण्ड था वहाँ अब लगभग १७० पौण्ड ही है। सच पूछो तो यह जेल का टैक्स ही है, जो उन्हें देना पड़ा है।

परन्तु मैं अब अपने विषय के बाहर जा रहा हूँ। मैं जो कह रहा था वह यही कि उनके लिए इस्लाम कोई संकीर्ण धर्म नहीं है और सच्चे दिल से उनका ऐसा विश्वास है कि जो सच्चा मुसलमान है उसे हिन्दू-मुस्लिम एकता और भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का काम करना ही चाहिए। "मुझे आश्चर्य है," १६३१ में एक वृहद् सभा में उन्होंने कहा था, "कि कांग्रेस का नाम ही मेरे कुछ मुसलमान भाइयों को भयभीत कर देता है। उनका ख़याल है कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है और इसलिए उन्हें उससे कोई वास्ता नहीं रखना चाहिए। परन्तु यह बात ऐसी ग़लत है जैसी इससे पहले कभी ऐसी किसी संस्था

के बारे में नहीं कही गई जो मूलतः बिलकुल राष्ट्रीय है। अपने भाइयों से मेरी यह प्रार्थना है कि वे कांग्रेस के विधान और नियमोपनियम तथा उद्देश-आदर्शों का ज़रा अध्ययन करें। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कांग्रेस लोगों को गुलामी और लूट से मुक्त करना चाहती है। या, दूसरे शब्दों में, कांग्रेस भारत के लाखों नंगे-भूखों को खाना-कपड़ा पहुँचाना चाहती है। मैं चाहता हूँ कि आप इस्लाम का इतिहास पढ़ें और इस बात को सोचें कि हमारे पैग़म्बरसाहब का ध्येय क्या था। वह यही तो चाहते थे कि पीड़ितों को अत्याचार से मुक्त किया जाय, भूखों को खाना मिले और नंगों को तन ढाँकने के लिए कपड़े प्राप्त हों। अतः कांग्रेस का काम पैग़म्बरसाहब का ही काम है, इस्लाम के खिलाफ़ इसमें कोई बात नहीं है।

"जब कि इस बात को मैं सूरज की रोशनी की तरह साफ़ देख रहा हू, तब मेरी समझ में नहीं आता कि मुसलमान कांग्रेस से अलग कैसे रह सकते हैं।

"फिर हम अहिंसा के ध्येय पर आते हैं। मुझ-सरीखा कोई पठान या मुसलमान उसे मंजूर करे, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है। १४०० बरस पहले जब पैग़म्बर साहब मक्का में रहे तो उन्होंने बराबर इसपर अमल किया था, और उसके बाद भी वे सब लोग इसपर अमल करते रहे हैं जिन्होंने किसी अत्याचारी के जुए को हटाना चाहा है। लेकिन हमने इसको इतना भुला दिया है कि जब महात्माजी ने इसे हमारे सामने उपस्थित किया तो हमने समझा, वह ऐसा कोई ध्येय और हथियार

बता रहे हैं जो अद्भुत और अनोखा है। इस बात का श्रेय महात्माजी को ही है कि हममें से सबसे पहले उन्होंने ही इस भूले हुए सिद्धान्त को पुनर्जीवित करके राष्ट्र के कष्ट-हरण के साधन के तौर पर उसे उपस्थित किया है।

"हिन्दू-मुसलमानों से मैं यह कहूँगा कि आज़ादी की यह लड़ाई दोनों ही की मुक्ति के लिए है। हिन्दू लोग इसमें शरीक होकर किसी-पर अहसान नहीं कर रहे हैं और इसमें हिन्दुओं के साथ मिलकर मुसलमान भी किसीपर कोई अहसान नहीं करेंगे। परन्तु यहाँ तो बहुत-से ऐसे प्रभाव काम कर रहे हैं जो हमें विभक्त करने के लिए काफ़ी हैं। हिन्दू-राज्य, मालदार हिन्दुओं के, शिक्षित हिन्दुओं के और राष्ट्रवादी हिन्दुओं के राज्य की बात हम कभी से सुनते आ रहे हैं। पर जो लोग हिन्दू-राज्य के खिलाफ़ मुझे आगाह करने आते हैं उनसे मेरा यही कहना है कि एक बिलकुल अजनबी की गुलामी से एक पड़ोसी के गुलाम रहना शायद अच्छा ही होगा।"

५

ख़ुदाई ख़िदमतगार

सन् १९२४ में, जेल से छूटने पर, ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ समाज-सुधार के शान्त कार्य में लग गये, हालांकि कांग्रेस के भिन्न-भिन्न अधिवेशनों में वह उपस्थित होते रहे। वह इतने सरल-स्वभाव और विनम्र हैं कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं जो उनकी ओर लोगों का बहुत ध्यान न गया हो—और, प्रसिद्धि की चकाचौंध से तो वह निश्चय ही बचे रहे। परन्तु, जैसा कि हमे मालूम है, अपने प्रान्त में तो वह इससे बिलकुल मुक्त नहीं रह सके। १९२१ में किस प्रकार उन्होंने उतमानज़ई में राष्ट्रीय स्कूल की स्थापना की, यह हम देख ही चुके हैं। यही वह स्कूल है जहाँ से अनेक कार्यकर्ता तैयार होकर निकले और जिसका १९३२ में वही हाल हुआ जो अहमदाबाद में गुजरात-विद्यापीठ का हुआ। कुछ साल बाद ख़ुदाई

ख़िदमतगारों के नाम से जो विस्तृत संगठन हो गया, उसका मूल इन कार्यकर्ताओं को ही कहा जा सकता है। चूंकि ख़ानसाहब मूलतः ईश्वरोपासक हैं, इसलिए अपने स्वयंसेवक-दल का खुदाई ख़िदमतगार के अलावा और कोई नाम उनकी कल्पना में न आया, न इससे उपयुक्त कोई नाम चुना ही जा सकता था। प्रारम्भ में यही सोचा गया था कि ये स्वयंसेवक-कार्यकर्ता पठानों को स्वेच्छाचार और लूट-खसोट से विरत करने, शिक्षित करने, विवाहादि संस्कारों की फ़िज़ूलख़र्ची कम कराने आदि के रूप में केवल समाज-सुधार का ही काम करेंगे; कार्यकर्ताओं के इस छोटे से दल को कांग्रेस का सम्पूर्ण कार्यक्रम कार्यान्वित करनेवाला पूरा राजनीतिक संगठन बनाने का निश्चय तो ख़ानसाहब ने १९२९ में जाकर किया। इन कार्यकर्ताओं को 'लालकुर्तीदल' नाम जान-बूझकर उन्हें बदनाम करने के लिए ही दिया गया है। यह भी संभव है कि शायद देशी भाषा से अनभिज्ञ कुछ अफ़सरों को देशी भाषा का सुन्दर 'खुदाई ख़िदमतगार' नाम लेने में मुश्किल मालूम पड़ा हो और जाति को संगठित करने के हरेक काम को ख़तरनाक समझकर उससे भड़कनेवाले उन अफ़सरों को इन खुदाई ख़िदमतगारों में भी कुछ 'ख़तरा' दिखाई पड़ा हो! पर खानबन्धुओं का कहना है कि खुदाई-ख़िदमतगारों की वर्दी शुरू में शुद्ध सफ़ेद खादी की ही रक्खी गई थी; बाद में जब यह अनुभव हुआ कि सफ़ेद खादी बहुत जल्दी मैली हो जाती है तब वर्दी इंटिया (ईंट के से) रंग की कर दी गई, जिसे लाल तो शायद ही कहा जा सकता है। यह ध्यान रखने की बात है कि ईंट के

रंग और सोवियट रूस के लाल रंग में बहुत फ़र्क़ है, एक-दूसरे का कोई मेल नहीं मिलता।

रहा कांग्रेस का कार्यक्रम—सो खुदाई खिदमतगार काँग्रेस के सिर्फ़ विदेशी कपड़े तथा शराब आदि की दूकानों को पिकेटिंग का जो काम कर रहे थे वह बाक़ायदा जारी था और कतारबंद कूच आदि करने की उन्हें शिक्षा दी जाती थी; मगर हथियारों का बिलकुल निषेध था, यहाँतक कि लाठी भी वे नहीं रख सकते थे। अनुशासन इतना कठोर था, कि ज़रा-से आज्ञाभंग पर ही दल से अलग होना पड़ता था। सदस्यों को भर्ती होते समय यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, कि—

(१) ईश्वर, जाति और मातृभूमि के प्रति मैं वफ़ादार रहूँगा।

(२) सदा-सर्वदा अहिंसक रहूँगा।

(३) किसी सेवा के बदले पुरस्कार की कोई आशा नहीं रक्खूंगा।

(४) भय को दूर कर, निर्भय होकर, किसी भी बलिदान के लिए तैयार रहूँगा।

(५) शुद्ध जीवन बिताऊँगा।

अप्रैल १९३० में ५०० से अधिक खुदाई खिदमतगार नहीं थे, पर खानसाहब की गिरफ़्तारी से आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला। फिर कई बार गोलीबार और लाठी-काण्ड हुए, जिन्होंने आन्दोलन को दबाने के बजाय और भी लोकप्रिय बना दिया। इन गोलीबार तथा लाठी-काण्डों की तफ़सील में मैं नहीं जाऊँगा। मेरे पास इस सम्बन्ध के सारे प्रमाण होते और ऐसा करने का मुझे अवकाश होता तो भी,

जब कि सत्याग्रह का सारा आन्दोलन स्थगित है और उसका प्रणेता जहाँतक सम्भव हो उसके फिर से अमल में न आने का प्रयत्न कर रहा है उस हालत में, मैं उसे सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत न करता। यहाँ पर तो इतना कहना ही काफ़ी है कि इन भाइयों तथा खुदाई ख़िदमतगारों के विषय में प्रकाशित हुए जिस साहित्य को दबा दिया गया है उसके पक्ष में इन भाइयों के पास बहुत-कुछ सामग्री है। बड़े भाई ने जो कँपा देनेवाली बातें मुझे बताईं उनमें से अनेक उनकी आँखों-देखी हैं, परन्तु सत्याग्रह-आन्दोलन इस समय स्थगित होने के कारण इन दोनों भाइयों की रज़ामन्दी से मैं उन सारी दुःखद घटनाओं पर परदा डाल देना ही ठीक समझता हूँ।

पर एक बात की तो उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन स्वयं-सेवकों पर बाज़ाब्ता हिंसात्मक व्यवहार का दोषारोपण किया गया है। पर १९३० से ३३ तक के सारे समय में 'लालकुर्तीवालों' के ख़िलाफ़ ऐसा एक भी मुक़दमा नहीं चला, जिसमें उनकी ओर से सचमुच कोई हिंसात्मक कार्य होने का पता चलता हो। अप्रैल १९३० में पेशावर में जो काण्ड हुआ उसकी सरकारी-ग़ैरसरकारी दोनों प्रकार की जाँच हुई थी, परन्तु सुलेमान-कमिटी (सरकारी) और पटेल-कमिटी (ग़ैरसरकारी) इन दोनों ही कमिटियों की रिपोर्टों में उस भीषण काण्ड के कुछ खून खौला देनेवाले वर्णन तो मिलते हैं, लेकिन न तो उन रिपोर्टों में ही और न उनमें दीगई गवाहियों में ही किसी भी सरकारी अफ़सर-द्वारा किसी खुदाई ख़िदमतगार या 'लालकुर्तीवाले' का कोई उल्लेख मिलता है। उनके ख़िलाफ़ बुरी से बुरी जो बात

सरकार ने कही वह सीमाप्रान्त के चीफ़ कमिश्नर की मई १६३० की यह घोषणा थी:—"कांग्रेस-स्वयंसेवकों को, जो लाल कुर्त्ते पहनते हैं, तुम्हें अपने गाँव में नहीं आने देना चाहिए। वे कहते तो हैं अपने-को खुदाई खिदमतगार, परन्तु हैं दरहक़ीकत गांधी के खिदमतगार। वे बोलशेविकों की पोशाक पहनते हैं। वे यहाँ भी वैसी ही हालत कर देंगे, जैसी कि बोलशेविक राज्य की हम सुनते हैं।" यह कहना तो कठिन है कि उनकी इस बात का वस्तुतः क्या अर्थ है, कि वे और कुछ नहीं बोलशेविक ही हैं, पर २३ अप्रैल की उस दुर्घटना के बाद जो अनेक सरकारी विज्ञप्तियाँ निकलीं उनमें इनमें से किसी एक के खिलाफ़ भी कोई बात नहीं मिलती। फ़ादर एलविन १६३२ के अपने संक्षिप्त प्रवास में कुछ अफ़सरों से मिले थे, उस समय वे खुदाइ खिदमतगारों के खिलाफ़ जो कुछ भी शिकायत कर सके वह यही थी कि (१) ज़िलों के कुछ पुलिस अफ़सरों को बुरा-भला कहा गया और उनका अपमान हुआ, (२) उनकी मोटरों पर पत्थर और कीचड़ फेंकी गई, और (३) ईंट-पत्थरों के फिंकने से कोहाट में गोलियाँ चलाने का प्रोत्साहन मिला। जिस आन्दोलन की सारी शक्ति उसकी अहिंसात्मकता में ही है उसमें इन दोषों को भी छोटा नहीं माना जा सकता, यदि सचमुच ऐसा किया गया हो। परन्तु यह हर्गिज़ नहीं भूलना चाहिए कि सब ज़िम्मेदार नेताओं को गिरफ़्तार करके सरकार ने ऐसे अपराधों से बचाव के एक साधन को हटा दिया था, और जब हम पठान-जैसी वीर जाति के साथ होनेवाले भयंकर अपमान और बेइज़्ज़ती को याद करें तब तो उनके ये दोष उपेक्षणीय ही रह जाते हैं।

क्या उन विविध माफ़ियों की कहानी का यहाँ ज़िक्र करने की ज़रूरत है, जो अपनी रिहाई के लिए 'लालकुर्ती' क़ैदियों द्वारा माँगी गई बताते हैं ? इसकी चर्चा में उतरें तो मुझे दूसरे पक्ष की कुछ विस्तृत बातों पर जाना होगा, परन्तु वह इस पुस्तक के उद्देश से बाहर की बात है। यहाँ तो इतना ही कहना काफ़ी होगा कि जब हम यह जान लें कि दो आदमियों ने, जिनकी चर्चा मैं प्रथम अध्याय में कर चुका हूँ, ज़मानत जमा करने की बेइज़्ज़ती से बचने के लिए—जो माफ़ी माँगने की बेइज़्ज़ती से निश्चय ही कम है—अपने प्राणों की ही आहुति देदी तो हमें यह सब कहानी असंगत और अविश्वसनीय प्रतीत होगी। इन बहादुर पठानों ने जेलों के अन्दर तथा बाहर जो कष्ट उठाये हैं, चल-अचल सम्पत्ति की जो हानियां सही हैं, और भारी-से-भारी उत्तेजनाओं के सामने भी जो आश्चर्यजनक सहिष्णुता रक्खी है, जब किसी दिन इन सबका पूरा और सच्चा वृत्तान्त सामने आयगा तो वह एक ऐसा रहस्योद्घाटन होगा जिसके लिए कोई भी राष्ट्र गर्वानुभव कर सकता है।

६

दोषारोपण और सचाई

तब ख़ानबन्धुओं का अपराध क्या है? बड़े भाई डा० ख़ान-साहब के बारे में तो तमाम सरकारी वक्तव्य ख़ामोश हैं, जिससे मालूम पड़ता है कि उनका अपराध यही है कि वह एक ऐसे आदमी के भाई हैं जो सरकार की नज़रों में बहुत चढ़ चुका है। रह गये छोटे भाई, सो उनपर लगाये गये कुछ आरोप इस प्रकार हैं:—

(१) "गांधीजी के गोलमेज़ परिषद् में चले जाने पर कांग्रेस-कार्य-समिति के आग्रह पर उन्होंने कांग्रेस-आन्दोलन के लिए ज़िलों में विस्तृत भ्रमण किया।"

(२) पाबन्दी के हुक्मों को तोड़कर उन्होंने गांवों का दौरा किया और मसजिदों में धार्मिक प्रवचनों की आड़ में राजनीतिक भाषण किये।

(३) मालगुज़ारी और पानी का टैक्स अदा न करने का प्रचार किया और लोगों को सरकारी नहर का पानी लेने से इनकार करने के लिए उकसाया।

(४) लालकुर्ती दल "एक क्रांतिकारी संगठन है, जिसका उद्देश बलप्रयोग-द्वारा अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से निकाल देना है," और ख़ानसाहब इन लालकुर्तीवालों की सहायता से क़बीलों के इलाक़ों में प्रचार-कार्य कर रहे थे।

(५) पेशावर में होनेवाले कांग्रेसी प्रचार का मोहमन्द प्रदेश पर असर पड़ा है।

(६) प्रान्तिक कांग्रेस कमिटी ने १ दिसम्बर १९३१ की प्रधानमंत्री की घोषणा को नामंजूर करके भारतीय स्वाधीनता की माँग को दुहराया और ख़ानबन्धुओं ने दरबार में उपस्थित होने के चीफ़कमिश्नर के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया।

(७) अहिंसा के पालन पर ज़ोर तो दिया गया, पर सर्व-साधारण को किसी महान् अवसर की प्रतीक्षा के लिए प्रेरित किया गया और उसकी आशा में संयुक्त होने तथा आन्दोलन को लड़ाई कहकर फिरसे उसकी शुरुआत करने को तैयार रहने के लिए उत्तेजित किया गया।

(८) 'ट्रूस' को ख़ानसाहब ने सदा अस्थायी कहा।

(९) मेरठ की एक कानफ्रेन्स में उन्होंने कहा, मैं कांग्रेस में इसीलिए शामिल हुआ हूँ कि कांग्रेस का और मेरा एक ही उद्देश है, और वह है "अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल देना"।

(१०) खुदाई खिदमतगारों ने मुक़दमों का पंचायती तौर पर आपस में फ़ैसला करके, सज़ा देकर या गवाहियाँ रुकवाकर, क़ानून में हस्तक्षेप किया है।

इन आरोपों में से पहले, छठे, आठवें और नवें को तो खानसाहब तुरन्त स्वीकार कर लेंगे। पर कोई मनुष्य संजीदगी से यह नहीं कह सकता कि ये अपराध विशेषतया खानसाहब ही से संबंध रखते हैं। इन अपराधों के कई नेता आज मुक्त हैं और उनके खिलाफ़ कोई पाबन्दी या रुकावट के हुक्म नहीं हैं। कुछ मामलों में उन्होंने मालगुज़ारी आदि न देने के लिए कहा यह सच है, पर यह उन्होंने इसलिए नहीं किया कि वहाँ कर-बन्दी का कोई आन्दोलन था—क्योंकि स्वयं उन्होंने ही अपनी ज़मीन की मालगुज़ारी दी है—बल्कि इसलिए कि उन मामलों में कर देनेवाले कर देने में असमर्थ थे। दूसरे, चौथे और पाँचवें आक्षेप बिलकुल निराधार हैं और सरकार चाहे तो उनके लिए खानसाहब पर साधारण क़ानून के मातहत मुक़दमा चला सकती थी। उन्होंने कभी भी बलप्रयोग का प्रचार किया या उसका सहारा लिया, इसका वह ज़ोरों से खण्डन करते हैं; और कहते हैं कि अगर मैंने ऐसा किया होता तो आन्दोलन आसानी से हिंसात्मक रूप पकड़ लेता, पर ऐसा कभी नहीं हुआ। अन्तिम आरोप लालकुर्तीवालों के लिए बदनामी के बजाय तारीफ़ की ही बात है। उससे तो यही मालूम पड़ता है कि यह आन्दोलन कितना सुसंगठित था और लालकुर्तीवालों ने अदालतों के असहयोग का सिद्धान्त कितनी अच्छी तरह कार्यान्वित किया। उस सिद्धान्त को मानते तो उनके साथ अन्य

प्रान्त भी इसी प्रकार थे मगर भलीभाँति कार्यान्वित कभी नहीं कर पाये।

नवाँ आरोप ज़रा विस्तार से विचार करने के क़ाबिल है, क्योंकि १९३१ में गाँधीजी के कहने पर जब खान अब्दुलग़फ़्फ़ार-खाँ होमसेक्रेटरी से मिले तो उन्होंने उसे उनके ख़िलाफ़ पेश किया था। यहाँ उनके भाषणों के कुछ सबसे ख़राब उद्धरण दिये जाते हैं, जो उन भाषणों के सरकारी अनुवादों से लिये गये हैं:—

"अगर मरा नहीं तो मैं अंग्रेज़ों को अपने मुल्क पर हुकूमत करने से रोकूँगा और खुदा की मदद से उसमें कामयाब होऊँगा।

"लोग मेरी इसलिए शिकायत करते हैं कि मैं अपने राष्ट्र को बेचकर कांग्रेस में शरीक हो गया। दरअसल बात यह है कि काँग्रेस संगठित रूप से अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ काम कर रही है और ब्रिटिश राष्ट्र कांग्रेस का व पठानों का दुश्मन है। इसीलिए मैं उसमें शरीक हुआ हूँ और अंग्रेज़ों से छुटकारा पाने के संयुक्त उद्देश से ही हम दोनों आपस में मिल गये हैं। फ़िरंगी की चालों से हमें धोखे में नहीं आना चाहिए।

"हमारे (लालकुर्त्तीवालों के और कांग्रेस के) दो उद्देश हैं; एक तो अपने देश को आज़ाद करना, और दूसरा नंगे-भूखों को कपड़ा-खाना पहुँचाना।

"जबतक आज़ादी हासिल न हो जाय, चैन न लो। चाहे तोप, बम आदि से तुम्हारा सफ़ाया ही क्यों न हो जाय, इसकी पर्वा मत करो। अगर तुम बहादुर हो तो मैदानेजंग में आकर अंग्रेज़ों से

उड़ो, जो हमारी सारी मुसीबतों की जड़ हैं। कांग्रेस अंग्रेज़ों की विरोधी संस्था है; अंग्रेज़ कांग्रेस और पठान दोनों ही के एक-सा दुश्मन हैं। इसी वजह से मैं कांग्रेस में शरीक हुआ हूँ।"

इन उद्धरणों की ज़रा उनसे तुलना कीजिए, जो एक पिछले अध्याय में मैं उनके बारडोली के भाषणों से दे चुका हूँ। ये उद्धरण, जो यहाँ दिये गये हैं, मेरठ व सीमाप्रान्त में दिये हुए उनके भाषणों के हैं। क्या दोनों भाषणों में हमें उसी वीर, सत्यवादी की सच्ची आत्मा बोलती हुई नहीं सुनाई पड़ती? और फिर क्या यह बात नहीं है कि इन उद्धरणों में वह आग उगलने के बजाय भद्दे और विकृत अनुवादकों के अधिक शिकार हुए हैं? निस्सन्देह वह 'लड़ाई' की भाषा में बात करते हैं, परन्तु उन दिनों ऐसा किसने नहीं किया, और अब भी कौन ऐसा नहीं करता? उनका मतलब बल-प्रयोग-द्वारा अंग्रेज़ों को निकालना नहीं है। बल्कि उनके कथन में स्वयं 'तोप बमों' से उड़ा दिये जाने की बात है, जैसा कि अनुवादक ने भी कहा है।

दरअसल बात यह है कि दो सच्ची आत्माओं के महान् परिश्रम से जो 'ट्रूस' स्थापित हुई वह सरकारी अफ़सरों और ख़ासकर सीमा-प्रांत के अफ़सरों की आँख की किरकिरी थी, क्योंकि उन्होंने पठानों पर अपनी शहंशाही जमा रक्खी थी और इससे उन्हें ऐसा लगा कि हमारी 'शहंशाही' तेज़ी से मिटी जा रही है। उनके सामने तब और अब जो कठिनाई रही है वह यह नहीं कि लालकुर्त्तीवालों ने हिंसा का या ख़ानसाहब ने बल-प्रयोग के सिद्धान्त का प्रचार किया, बल्कि यह कि सरकारी अफ़सरों की भद्दी-से-भद्दी हिंसा भी उन्हें

हिंसा के लिए प्रेरित नहीं कर सकी और वे इतनी बुरी तरह 'गांधी के ख़िदमतगार' (जैसा कि एक सरकारी परचे में स्पष्ट कहा गया है) बन गये तथा इतनी वफ़ादारी के साथ उन्होंने 'सरहदी गाँधी' का कहना माना है।

७

अंग्रेज़ों के जानने की बातें

हमने जिन अभियोगों पर विचार किया वे अब तीन साल पुराने हो गये हैं। पर मानो उन निराधार आक्षेपों के लिए तीन साल की क़ैद ही काफ़ी नहीं थी, इसलिए ख़ानसाहब के सब से बड़े निंदक सर माइकल ओड्वायर ने 'मार्निंग पोस्ट' में लिखे हुए एक लेख में उनपर कुछ और आरोप लगाये हैं और विद्रोहियों को मर्यादित स्वतंत्रता देने के लिए सरकार की निन्दा की है। इस भूतपूर्व तानाशाह ने, जो अपने प्रारम्भिक वर्षों में सीमाप्रान्त में रहा और इस बात का दावा करता है कि सरकार की अपेक्षा वह अधिक अच्छी तरह उस प्रान्त और वहाँ के नेता को जानता है, इस संबंध में और प्रकाश डाला है। आतंकवाद तथा कम्युनिज़्म से इन भाइयों का सम्बन्ध जोड़कर छोटे भाई के बारे में वह लिखता

हैं, कि "दुःसाहसी अफ़ग़ान-क्रांतिकारी अब्दुलग़फ़्फ़ारखाँ, यद्यपि वह 'सरहदी गाँधी' के नाम से मशहूर है, खुल्लमखुल्ला गांधी के अहिंसा के ढकोसले की हँसी उड़ाता है और इस बात को नहीं छिपाता कि वह अंग्रेज़ों को खदेड़कर सीमाप्रान्त में सोवियट ढंग का कम्यूनिस्ट प्रजातंत्र संगठित करना चाहता है।" निस्सन्देह यह सरकारी आरोपों का परिवर्द्धित संस्करण है और सर माइकल के इस जान-बूझ कर फैलाये हुए ज़हर के आगे सरकारी आरोप निर्जीव पड़ जाते हैं। परन्तु इस द्वेषपूर्ण दोषारोपण की इमारत खड़ी किस नींव पर है? "अब्दुलग़फ़्फ़ार", वह कहते हैं, "बाग़ी सरहदी कबीलों के निकट-सम्पर्क में है और हमारे सबसे ज़बरदस्त दुश्मन तुरंगज़ई के हाजी का, जिसने कि हाल के वर्षों में इतनी बार मोहमन्द अफ़रीदियों और दूसरे क़बीलों को पेशावर पर आक्रमण करने के लिए भड़काया है, दामाद है।"

अब ज़रा सचाई पर आइए। सबसे पहले तो मैं निःसंकोच यह कहूँगा कि खानसाहब और तुरंगज़ई के हाजी में उतना ही सम्बन्ध है जितना उनमें और उनके निन्दक सर माइकल ओड्वायर में। खानसाहब के श्वशुर तो रज्जर के सुलतान मुहम्मदखाँ थे, जो अपनी मृत्युपर्यंत जे०पी० (जस्टिस आफ दी पीस) रहे और जिनकी सेवाओं के बारे में कदाचित् खानसाहब की अपेक्षा सरकारी अफ़-सर अधिक अच्छी तरह बता सकते हैं। फिर सर माइकल ने तुरंग-ज़ई के हाजी को खानसाहब का श्वशुर कैसे बतलाया? यह मैं बताने की कोशिश करूँगा। हाजी तुरंगज़ई का रहनेवाला है, और तुरंगज़ई

गाँव ख़ानसाहब के गाँव उतमानज़ई से बहुत क़रीब है। १९११ में वह लोगों की नज़र में आया, जब कि समाज-सेवा की शिक्षा के लिए उसने अपने स्कूल खोले। यह देखकर ख़ानसाहब तुरन्त हाजी के, जो कि प्रान्त में राष्ट्रीय शिक्षा का पथ-प्रदर्शक माना जा सकता है, साथ हो गये। जिस समय की यह बात है, शायद उसी समय सर माइकल सीमाप्रान्त में एक कनिष्ठ कर्मचारी थे और बाद में जब हाजी का आतंक छा गया तो सर माइकल ने अपने उस पुराने ज्ञान का उपयोग करना चाहा और चुटकीली बात के लिए सत्य को क़ुरबान करने में संकोच न करते हुए उन्होंने हाजी को ख़ानसाहब का श्वशुर बना दिया। हाजी के भाग्य पर विचार करने की यहाँ ज़रूरत नहीं, पर यह जान लेना आवश्यक है कि १९१५ में हाजी के स्कूल तोड़ दिये गये और वह अपने गाँव से भाग गया—यहाँतक कि अभी तक वापस नहीं लौटा। हाँ, १९१९ में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ अफ़ग़ानों की मदद करने के लिए वह मशहूर है, और ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ जब १९२१ में ख़िलाफ़ती मुहाजरीन को लेकर अफ़ग़ानिस्तान गये तब जाते-आते वक्त वह उन्हें मिला था; लेकिन इसके बाद उन्होंने न तो कभी उसे देखा और न उसके बारे में कुछ सुना ही।

यह तो हाजी के बारे में हुआ। अब क़बीलेवालों के साथ ख़ानसाहब के सम्बन्ध की बात सुनिए। यहाँ क़बीलों के इलाक़े के बारे में कुछ बातें जान लेना ज़रूरी होगा। क़बीले जहाँ रहते हैं वह पहाड़ी इलाक़ा है और पाँच ब्रिटिश ज़िलों के उस तरफ़ बलूच-हिन्दूकुश सीमा तक फैला हुआ है। यह 'स्वतंत्र प्रदेश' कहलाता है और

ब्रिटिश ज़िलों से लगभग दूना है, यद्यपि आबादी लगभग उतनी ही है, और भाषा सब पठान, थोड़े-बहुत फेरफार के साथ, वही पश्तो बोलते हैं। परन्तु इन इलाक़ों को 'स्वतंत्र' कहना स्वतंत्रता का ऐसा अर्थ करना है, जो सही नहीं है। क्योंकि ज़िलों का शासक गवर्नर-जनरल के एजेण्ट की हैसियत से इन इलाक़ों पर अपना प्रभुत्व रखता है और क़बीलेवाले उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के सामरिक-शतरंज-पट पर अक्सर अपनेको गुलाम से अच्छी स्थिति में नहीं पाते। वे हैं तो जंगली और अक्खड़, तो भी ऐसे जड़ नहीं हैं जो अपने आसपास होती हुई जागृति को न देख सकें। कोई पठान लाठियों की मार तथा उससे भी बदतर व्यवहार बिना क्रुद्ध हुए हँसते-हँसते सह सकता है, यह बात इन क़बीलेवालों के लिए किसी जादू से कम न थी। यही बात इस ओर उनकी ऐसी दिलचस्पी पैदा करने के लिए काफ़ी थी जो वे इस आन्दोलन के साथ हो गये—और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि एक ही जाति और धर्म के लुटेरे भी आपस में मिल-जुलकर अपनी दुहेरी गुलामी—क़बीले के सरदार की और उन अंग्रेजों की जो उनको वस्तुतः अपनी दासता में ही रखते हैं—के जुए को अपने कन्धे पर से उतार फैंकने की इच्छा करने लगे। वर्तमान युग में कोई किसी जन-समूह के अज्ञान का सहारा लेकर अपना मतलब गांठ सकता है, यह सोचना मूर्खता की पराकाष्ठा होगी। ख़ानसाहब ने मुझसे कहा कि मलकन्द, बाजौर और स्वात के निकटवर्ती इलाक़ों के क़बीलेवालों ने अपने बच्चों को आज़ाद स्कूलों में, जिनकी कि १९२१ में उन्होंने

स्थापना की थी, भेजना शुरू कर दिया था और किसी हद्तक वे ब्रिटिश इलाक़ों के अपने भाइयों के सुख-दुःख में ही अपना सुख-दुःख समझने लगे थे। उनमें से कुछ तो खुदाई ख़िदमतगारों में भी शामिल हो गये और गत आन्दोलन में जेल भी गये। परन्तु इन इलाक़ों के उसपार के क़बीलेवाले अभी बिलकुल अछूते हैं। ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ इस बात को नहीं छिपाते कि वे सब क़बीलेवालों को शान्तिप्रिय बनाकर सारी सरहद को एक सूत्र में गूंथ देना चाहते हैं। परन्तु अभी तो यह स्वप्न ही है। सीमा पार करने की उन्हें कभी इजाज़त नहीं दी गई, यहाँतक कि जब श्री देवदास गाँधी १९३१ में सीमाप्रान्त गये और उन्होंने चकधरा पुल को देखना चाहा, जहाँ संसार के कुछ अत्यन्त सुन्दर दृश्य हैं, तो ख़ानसाहब अपने मेहमान के इस छोटे-से शौक़ को भी पूरा नहीं कर सके। यह पुल उस सड़क के कुछ ही उधर है, जो कि मलकन्द एजेन्सी में होकर जाती है, और श्री देवदास गांधी ने उस स्थान के अफ़सरों को यह स्पष्ट कर दिया था कि वह और ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ वहाँ सिर्फ़ प्राकृतिक दृश्य देखने के लिए ही जाना चाहते हैं। फिर भी पूर्व व्यवस्था के अभाव में वह न देखा जा सका। इस समय तो क़बीलेवालों के बारे में हम जो कुछ सुनते हैं वह यही कि वे अक्सर ब्रिटिश इलाक़ों में आकर लूटमार मचाते हैं। पर सर माइकल ओड्वायर को जानना चाहिए कि अहिंसा में ख़ानसाहब का इतना ज़बरदस्त विश्वास है और गाँधीजी में उनकी श्रद्धा इतनी सम्पूर्ण है कि एक बार उन्होंने गांधीजी से पूछकर यह निश्चय कर लेना ठीक समझा कि डाकुओं या बदमाशों के

आक्रमण के समय ख़ुदाई ख़िदमतगारों को आत्म-रक्षार्थ भी बल-प्रयोग करना चाहिए या नहीं ?

सर माइकल ओड्वायर के इस कथन में कितनी ग़लतबयानी भरी हुई है कि ख़ानसाहब "खुल्लमखुल्ला गांधी के अहिंसा के ढकोसले की हँसी उड़ाते हैं"—यह १६३१ में दिये हुए ख़ानसाहब के एक बयान से स्पष्ट हो जायगा। जैसा कि एक सरकारी रिपोर्ट में घोषित किया गया है, ख़ानसाहब इस बात से कभी इन्कार नहीं करते कि उनका प्रान्त अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक 'हत्यारा' है। परन्तु इसके साथ ही ख़ानसाहब संसार के सामने यह भी घोषित करते हैं कि उसका हत्यारापन कम करने, और संभव हो तो उसे सारी हिंसा एवं हत्याओं से मुक्त करने के लिए ही उन्होंने अहिंसा को अपना ध्येय बनाया है। इस एक कोने में पड़े हुए प्रान्त में अहिंसा के बग़ैर शान्ति नहीं हो सकती और ख़ानसाहब ने उस समय से इस सुनहरे उपाय को पकड़ा है, जब कि भारत में सत्याग्रह आमतौर पर प्रचलित नहीं हुआ था।

सद्भावनावाला कोई भी व्यक्ति ख़ानसाहब के उन शब्दों की सचाई और उत्साह को अस्वीकार नहीं कर सकता, जो इस सम्बन्ध में १६३१ में उन्होंने कहे थे और ११ जून १६३१ के 'यंग इंडिया' में प्रकाशित हुए थे:—

"मेरी अहिंसा मेरे लिए क़रीब-क़रीब धर्म-विश्वास की बात हो गई है। गांधीजी की 'अहिंसा' में मैं पहले से विश्वास रखता था। मगर मेरे अपने प्रान्त में इस प्रयोग को जो अपूर्व सफलता मिली है

उसने मुझे अहिंसा का एक ज़बरदस्त हिमायती बना दिया है। ईश्वर ने चाहा तो मैं अपने प्रान्त को हिंसात्मक बनते हुए कभी न देखूँगा। जिन आपस के खूनी कलहों ने हमारे नेकनाम को धब्बा लगाया है उनपर से हिंसा के कड़वे नतीजों को हम अच्छी तरह जानते हैं। हमारे स्वभाव में हिंसा की बहुतायत है। पर अपने ही हित में हमारे लिए यह अच्छा है कि हम अहिंसा की शिक्षा प्राप्त करें। फिर, क्या पठान प्रेम और तर्क से ही नहीं जीता जा सकता? अगर आप उसका दिल जीतलें तो वह आपके साथ दोज़ख में भी चला जायगा, लेकिन ज़बरदस्ती तो आप उसे बहिश्त में भी नहीं ले जा सकते। पठानों पर प्रेम का ऐसा ही असर पड़ता है। मैं पठानों से यह चाहता हूँ कि वे दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि वे दूसरों से अपने प्रति चाहते हैं। यह हो सकता है कि मुझे सफलता न मिले और मेरे प्रान्त में हिंसा की लहर छा जाय। यदि ऐसा हुआ तो उसे मैं अपना दुर्भाग्य समझूँगा। पर उससे अहिंसा में, जिसकी कि मेरे प्रान्तवासियों को सबसे ज़्यादा ज़रूरत है, मेरा जो अन्तिम विश्वास है उसमें कोई कमी न आयगी।"

अब ख़ानसाहब के कुटुम्ब के बारे में भी कुछ बातें सुनिए, जिनसे अंग्रेज़ों को ख़ानसाहब के कुटुम्बियों के प्रति जो अंग्रेज़-विरोधी भावों और कामों का भय है वह सब मिट जाना चाहिए। मैं यहाँ ख़ानसाहब के कुछ ख़ास-ख़ास कुटुम्बियों का ही उल्लेख करूँगा। निस्सन्देह यह तो पाठक जानते ही हैं कि डा० ख़ानसाहब

की पत्नी एक अंग्रेज़ महिला है। परन्तु यह बात वे न जानते होंगे कि अपने पति की गिरफ़्तारी से पहले जब वह हिन्दुस्तान में थीं तो उनका घर (जिसे अब नाममात्र के दाम पर सरकार ने अपने क़ब्ज़े में कर लिया है) सब तरह के मित्रों के लिए खुला हुआ था, जिनमें विविध अफ़सरों की भी कमी न थी। सीमाप्रान्त के वर्तमान गवर्नर कर्नल सर रॅल्फ़ ग्रिफ़िथ की पत्नी की उनसे बड़ी मित्रता थी और स्वयं कर्नलसाहब भी अक्सर डाक्टरसाहब के अतिथि हुआ करते थे। डा० ख़ानसाहब के पुत्र ने हाल में लण्डन की मैट्रिक-परीक्षा पास की है और आक्सफ़र्ड में अपनी पढ़ाई शुरू करने की सोच रहा है। उनकी अपनी लड़की और ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ की लड़की, जो अभी एक महीने पहलेतक डा० ख़ानसाहब की अंग्रेज़ पत्नी की देख-रेख में इंग्लैण्ड थी, दोनों एक ही स्कूल में पढ़ती हैं। बड़े भाई के सबसे बड़े लड़के (जो उनकी पहली पत्नी से हैं) सादुल्लाख़ाँ ने अपनी पढ़ाई समाप्त कर लाउबरो इंजीनियरिंग कालेज से सिविल इंजीनियरिंग की डिग्री हासिल की है और १९३० में ही इंग्लैण्ड से लौटा है। दूसरे पुत्र उबेदुल्लाख़ाँ ने, जो अपनी ७८ दिन की भूख-हड़ताल के कारण भारतभर में विख्यात हो चुका है, मद्रास-कालेज में चमड़ा कमाने (टॅनिंग) की शिक्षा पाई थी और इस विषय की विशेष शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड जाने का पासपोर्ट भी प्राप्त कर लिया था, पर इसी बीच मालगुज़ारी अदा न होने के कारण वह गिरफ़्तार कर लिया गया। ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ के सबसे बड़े पुत्र अब्दुलग़नी ने शकर शुद्ध करने की शिक्षा के लिए दो साल

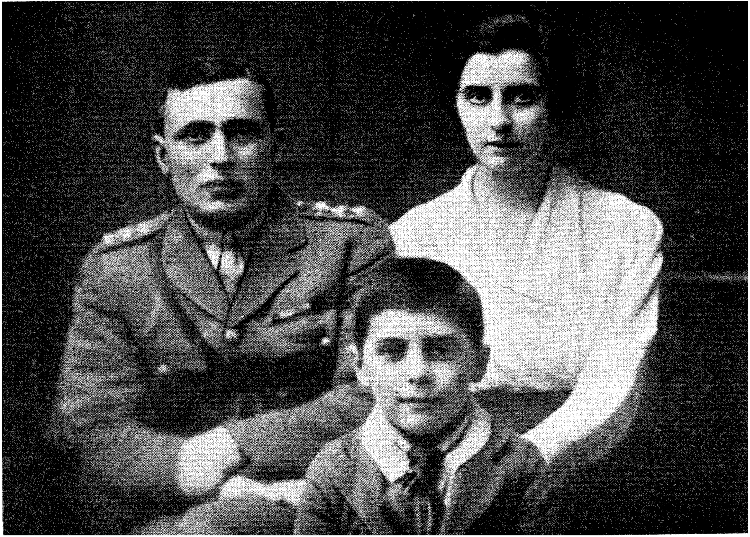

डा० ख़ानसाहब, उनका पुत्र जॉन, श्रीमती ख़ानसाहबा
(यह चित्र उस समय लिया गया था जब डा० खानसाहब महायुद्ध में फौजी कार्य कररहे थे)

इंग्लैण्ड में और कई साल अमरीका में बिताये, ताकि अपनी पैत्रिक सम्पत्ति के प्रबन्ध में (जो अब आर्डिनेंस-शासन में छिन्नभिन्न हो गई है) सहायता दे सके, और अब कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में है। दूसरा पुत्र अब्दुलअली अभी कुछ समय पहलेतक कर्नल ब्राउन के स्कूल में (देहरादून) था, जहां से उसने सीनियर कैम्ब्रिज की परीक्षा पास की। और सबसे छोटा पुत्र तो अभी भी इसी स्कूल में है।

रेवरण्ड विग्रम का उल्लेख पहले किया जा चुका है। दोनों भाई उस भले पादरी के शिष्य थे और दोनों, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, अभीतक उनको याद करते हैं। बड़े होनेपर भी इन्होंने विग्रम-कुटुम्ब से अपनी जान-पहचान बनाये रक्खो, जो बाद में घनिष्ठ मित्रता का रूप धारणकर और भी दृढ़ हो गई। डा० खानसाहब अभी भी कृतज्ञता के साथ यह बात कहते हैं, कि रेवरेण्ड विग्रम के भाई, जो अब लिविं-ग्स्टन कालेज के प्रिंसिपल हैं, डा० विग्रम को ही इस बात का पूरा श्रेय है कि वे लण्डन के सेण्ट थामस हास्पिटल में दाखिल हो सके। और इंडियन मेडिकल सर्विस में, जिसमें कि वह रह चुके हैं, अनेक व्यक्ति अब भी डा० खानसाहब के मित्र हैं।

डा० खानसाहब पेशावर क्लब के सदस्य हैं, जिसके प्रायः सभी सदस्य फ़ौजी अफ़सर हैं, और स्काउट कमिश्नर हैं। इस बात को भूल-सुधार की गुंजायश रखते हुए मैं लिख रहा हूँ, क्योंकि शायद अपनी सज़ा के समय उन्हें क्लब तथा स्काउटकमिश्नरी से पृथक् कर दिया गया हो। परन्तु जेलवास से पहले अफ़सरों के साथ, फिर वह बड़े-से-बड़ा ही क्यों न हो, उनके जो सम्बन्ध थे,

वह मैं बता ही चुका हूँ। क़ैद के दिनों में मि० राबर्ट ब्राउन ने, जो स्काटलैण्ड के निवासी हैं और कृषि-विभाग के एक उच्चपदाधिकारी की हैसियत से समस्त प्रान्त का दौरा किया करते थे किन्तु अब रिटायर हो चुके हैं, अपनी ससुराल आस्ट्रेलिया से डा० ख़ानसाहब को एक मित्रतापूर्ण पत्र लिखा, जिसमें मित्रता और आपसी मेहमान-दारी के पुराने सुखद दिनों की याद करते हुए ख़ान अब्दुलग़फ्फ़ार-ख़ाँ का ज़िक्र करके लिखा था—"अब्दुलग़फ्फ़ार से अधिक श्रेष्ठ और उदारहृदय व्यक्ति से मैं कभी नहीं मिला।" मैं इन सब व्यक्तिगत बातों को विस्तार से इसलिए लिख रहा हूँ, जिससे पाठकों को मालूम हो जाय कि अंग्रेज़ों के साथ ऐसे सम्पर्क और अपने बच्चों को ब्रिटिश वातावरण में शिक्षित कराने की इन भाइयों की इच्छा ऐसी बातें नहीं हैं जिनका 'अफ़ग़ान क्रान्तिकारियों' और 'सोवियट प्रजातंत्र के संगठनकर्ताओं' से मेल बैठाया जा सके। साथ ही मुझे पाठकों को यह भी बता देना चाहिए कि पंजाब के कुछ मतांध मुसलमान अख़बारों ने हिन्दू-मुसलिम एकता का प्रचार करने के लिए तो ख़ानबन्धुओं की निन्दा की ही है, पर इस बात को लेकर मुसलिम धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा पर शंका करने में भी वे बाज़ नहीं आये हैं कि उन्होंने शिक्षा के लिए अपने बच्चों को इंग्लैण्ड और अमरीका भेजा!

रही सोवियट प्रजातंत्र स्थापित करने की बात, जिसका दोषा-रोपण उनपर किया गया है, सो इस बारे में भी यह ध्यान देने की बात है कि छोटे भाई (अब्दुलग़फ्फ़ारख़ाँ) के भाषणों के जो उद्धरण

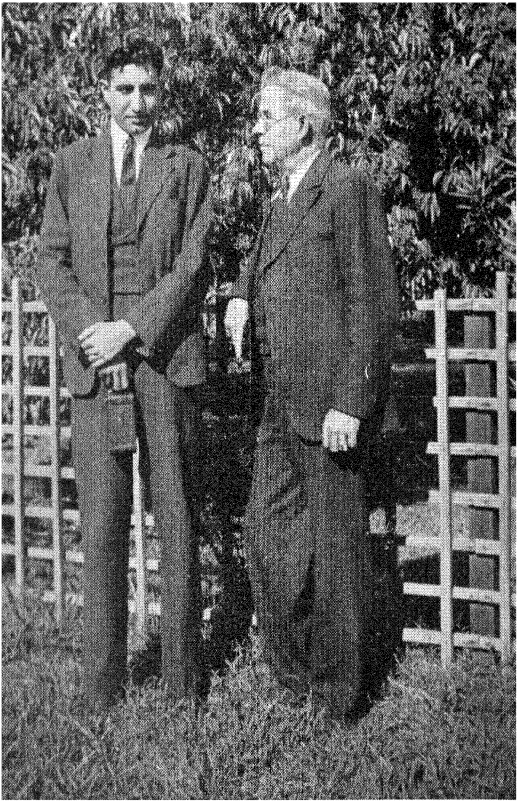

अब्दुलग़नीख़ाँ और उनके अमेरिकन अध्यापक

सरकार ने प्रकाशित किये हैं उनमें सोवियट प्रणाली या रूस का कोई ज़िक्रतक नहीं है। भारत और सीमाप्रान्त में वह जिस चीज़ के लिए सबसे ज़्यादा अनिच्छुक हैं वह बोलशेविज़्म है। सोवियट से स्पष्टतः वह उसी प्रकार डरते हैं जैसे ब्रिटिश राज से, और बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने ज़िलों की उन ग्रामीण जातियों के पुनरुद्धार के शान्त कार्य में लग जायँगे जिसके लिए कि उन्होंने अपना मन लगाया है। "हमारे सूबे में बहुत-से बुनकर हैं, पर धीरे-धीरे वे ख़त्म हुए जा रहे हैं," ख़ानसाहब ने इन दिनों एक बार कहा, "अगर मैं अपने ज़िलों में चरख़े का प्रचार कर सकूँ तो मैं अपनेको बड़ा क़िस्मतवर मानूँगा।" कोई तीन हज़ार के क़रीब गाँव सीमाप्रान्त के पाँच ज़िलों में हैं और वास्तव में कोई गाँव ऐसा नहीं है जहाँ ख़ान-साहब न गये हों। "लेकिन मेरे लिए उस वक्त तक चरख़े की बात करने का कोई फ़ायदा नहीं जबतक मैं ख़ुद कातना न जानलूं और ख़ुद नियमपूर्वक न कातने लगूँ"—उन्होंने कहा और कातना सीखने लगे—और, तीन-चार ही दिन में अच्छा बटा हुआ सूत कातने लगे। "गांधीजी से अधिक सच्चा कोई समाजवादी (सोशलिस्ट) हमें बतलाइए," जो भी कोई उनसे समाजवादी-सिद्धान्त पर बहस करने आता है उसीसे वह कहते हैं, "तो हम उसका अनुसरण करेंगे।" वे उन दिनों की याद दिलाते हैं, जब उनके ज़िलों में मौरूसी ज़मीन का नियत समय के लिए बन्दोबस्त हुआ करता था। "ख़ानपन, जो कि ज़मींदारी के क़िस्म का ही एक दूसरा नाम है, अंग्रेज़ों की ईजाद है," छोटे भाई ने मौरूसी ज़मीन के बन्दोबस्त पर

विचार-विनिमय करते हुए, जिसे मैं अच्छी तरह नहीं समझ सका, मुझसे कहा, "ऐसा हरेक खानपन या ज़मींदारी उस नये शासन-प्रबन्ध की सहूलियत के लिए बनाई गई जो स्थापित किया जा रहा था; और यह जानते हुए भी मैं यह बात कहता हूँ कि मेरे बाबा (पितामह) ख़ान के रूप में हज़ारों एकड़ ज़मीन के मालिक बनाये गये थे। यह बात १८४८ में ब्रिटिश शासन क़ायम होने के पचीस बरस बाद की है। इससे पहले हम उन सब ख़ानों का जिरगा किया करते थे जो सब गाँवों की और हरेक गाँव की ज़मीन के हिस्सों की नम्बरदारी करते और तब इकट्ठे में उसे देते थे। हर बीसवें साल ऐसा हुआ करता था। ख़ान सहित सबके पास असल में एक ही सी ज़मीन रहती थी और बन्दोबस्त की प्रणाली के अनुसार सब लोग मिलकर अपनेको एक गाँव से दूसरे में तब्दील कर लेते थे। समाजवाद के इससे अधिक शुद्ध रूप की मैं कल्पना नहीं कर सकता।"

८

सारा ही कुटुम्ब जेल में

इसके पहले कि मैं इन भाइयों को होनेवाली अनिश्चित क़ैद का उल्लेख करूँ, बीच की तफ़सीली बातों का संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक है। संधि-भंग के लिए कौन ज़िम्मेदार था, इस बात को अगर हम सीमाप्रान्त तक ही मर्यादित रक्खें तो भी इस प्रश्न पर विचार करना बहुत मुश्किल है; न इस बारे में ठीक-ठीक बातें ही मिल सकती हैं। मगर यह याद रखने की बात है कि अस्थायी सन्धि (ट्रूस) के समय भी मालगुज़ारी न दे सकने के लिए ख़ुदाई ख़िदमतगारों को ख़ासतौर पर सताया जाता रहा, हालांकि ख़ानबन्धु अपने हिस्से की मालगुज़ारी अदा कर चुके थे और करबन्दी का वहाँ कोई आन्दोलन नहीं था। इस पुस्तक का उद्देश न तो गड़े मुरदे उखाड़ना है और न सरकार पर दोषारोपण ही करना, इसलिए

इस प्रकार तंग किये जाने के भीषण मामलों को मैं छोड़े देता हूँ; फिर भी अपेक्षाकृत नरम दो मामलों का ज़िक्र तो कर ही देना चाहिए, क्योंकि उनमें से एक का सम्बन्ध तो ख़ान-परिवार के एक व्यक्ति से है और दूसरा ऐसा है कि जिसकी सचाई से किसीने इन्कार नहीं किया।

माज़ुल्लाख़ाँ का मामला काफ़ी प्रसिद्ध हो चुका है। वह एक प्रमुख ज़मींदार और ख़ुदाई ख़िदमतगार थे, मगर मुजरिम के तौर पर उन्हें हवालात में रक्खा गया। उन्होंने अधिकारियों को लिखा कि मालगुज़ारी न देने का मेरा कोई इरादा नहीं है और मैं यथासंभव जल्दी-से-जल्दी उसे चुकाने की कोशिश करूँगा। फिर भी, उनपर २०००) रु० की जो रक़म निकलती थी उसके लिए, उनकी एक मोटर, एक तांगा, एक घोड़ा और तीन भैंसें ज़ब्त कर ली गईं। यही नहीं, बल्कि उनकी रिहाई के बाद उनकी फ़सल की भी ज़ब्ती हुई और अन्त में १,५०,०००) रु० से अधिक की उनकी ज़मीन भी ज़ब्त करली गई। डा० ख़ानसाहब के दूसरे लड़के उबेदुल्लाख़ाँ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसके नाम पर जो ज़मीन थी उसकी मालगुज़ारी की रक़म भी काफ़ी अधिक हो गई थी। उबेदुल्ला ने बहुत-कुछ रक़म तो चुका दी, परन्तु ३००) रु० फिर भी बाक़ी रह गये थे। इसके कारण उसे गिरफ़्तार करके चरसद्दा की हवालात में रक्खा गया, जो इतनी गन्दी थी कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी गन्दगी देख कर उबेदुल्ला ने उस सबको बर्दाश्त करने के बजाय खाना खाने से ही क़तई इन्कार कर दिया। उसे डेढ़ महीने क़ैद की सज़ा हुई थी।

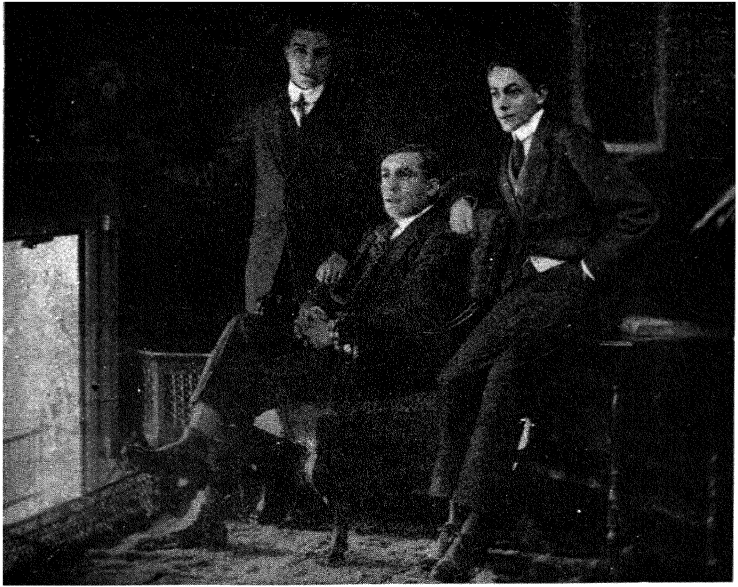

जवाहरलाल नेहरू, डा० ख़ानसाहब, जीवनलाल काटजू
(यह चित्र १९१० में लन्दन में लिया गया था)

जब ३८ दिनतक उसने भूख-हड़ताल की, तब जाकर स्थिति कुछ सुधरी, पर उसके कुछ ही दिन बाद वह रिहा हो गया। एक महीने तक वह अपने पिता की देखभाल में रहा। इसके बाद अपने गाँव गया और वहाँ से आर्डिनेन्स के मातहत गिरफ़्तार कर लिया गया।

जिस विज्ञप्ति में उस आर्डिनेन्स का समर्थन किया गया उसमें ख़ानबन्धुओं पर कई इलज़ाम लगाये गये हैं, जो छठे अध्याय में संक्षेप से दिये जा चुके हैं। यह स्पष्ट है कि पहले ये आरोप उतने भयंकर नहीं समझे गये थे, जितने कि २३ दिसम्बर को होनेवाले दरबार में ख़ानबन्धुओं को निमंत्रित करने पर उनके उसमें उपस्थित होने से इन्कार कर देने से समझे गये; और इसमें आश्चर्य नहीं कि जब उन्होंने देखा, छोटे-बड़े सभी की बेइज़्ज़ती हो रही है, तो जान-बूझकर उन्होंने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया। परन्तु सरकार के लिए तो यही बहुत था, इसी बहाने आर्डिनेन्स जारी करके उसने ख़ानबन्धुओं तथा उनके कुटुम्ब के सभी ख़ास-ख़ास आदमियों को गिरफ़्तार कर लिया।

आर्डिनेन्स जारी करने का एक कारण उनका दरबार में हाज़िर न होना बतलाया गया है, किन्तु वे दरबार में उपस्थित होते तो क्या आर्डिनेन्स नहीं बनता? गांधीजी २८ दिसम्बर को विलायत से बम्बई लौटनेवाले थे, उनसे मिलने के लिए छोटे भाई (ख़ान-अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ) बम्बई जानेवाले थे; और बड़े भाई (डा० ख़ान-साहब) इलाहाबाद जाने की सोच रहे थे, क्योंकि पं० जवाहरलाल नेहरू ने (जो लण्डन की पढ़ाई के दिनों से उनके मित्र थे) उन्हें

बड़े दिन की छुट्टियाँ अपने साथ मनाने के लिए वहाँ बुलाया था। परन्तु सरकार ने उनके लिए एक दूसरे ही क्रिसमस की व्यवस्था की। २४ ता० की रात को दोनों भाइयों को गिरफ़्तार करके अटकब्रिज भेज दिया। डा० ख़ानसाहब के ज्येष्ठपुत्र सादुल्लाख़ाँ भी, जो हाल ही इंग्लैण्ड से लौटकर प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के मंत्री बने थे, गिरफ़्तार करके उसी स्पेशल ट्रेन में पहुँचा दिये गये, जिसमें उनके बाप और चाचा थे। डा० ख़ानसाहब की पत्नी, जो दो दिन पहले ही अपने गाँव गई थीं, तथा सारे कुटुम्ब को आधीरात के समय गाढ़ी नींद से जगाकर कहा गया कि वे मकान छोड़दें, ताकि पुलिस उसकी अच्छी तरह तलाशी ले ले; और उनके दूसरे पुत्र उबेदुल्ला को भी पकड़ लिया गया, जो अभी बीमार ही था। दिल्लगी यह कि बाप-बेटों को गिरफ़्तार तो एकसाथ किया गया, लेकिन सरकार ने उन्हें रक्खा साथ-साथ नहीं। डा० ख़ानसाहब को तो स्पेशल ट्रेन से उतारकर नैनी-जेल (इलाहाबाद) भेज दिया गया और उनके बड़े लड़के सादुल्लाख़ाँ को बनारस-जेल। इसके बाद जब बाहर आन्दोलन हुआ तब कहीं जाकर डा० ख़ानसाहब को छोटे भाई ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार-ख़ाँ के पास हज़ारीबाग़-जेल भेजा गया और छोटे पुत्र उबेदुल्लाख़ाँ के साथ तो एक ख़ास क़िस्म का व्यवहार हुआ, जिसका यहाँ मुझे संक्षेप में वर्णन करना होगा। ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ की पत्नी को मरे तो दस बरस से ऊपर हो गये थे। अतः अब घर पर बड़े भाई की पत्नियाँ और उनके नाबालिग़ बच्चों के सिवा और कोई नहीं रह गया। इन दोनों बहनों ने भी उसी तरह आन्दोलन में भाग लिया

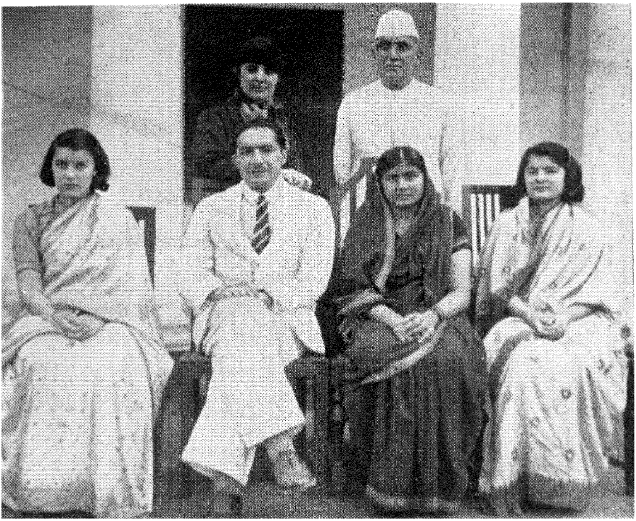

खड़े हुए—श्रीमती ख़ानसाहब, डा० ख़ानसाहब

बैठे हुए—कुमारी मरियम (डा० ख़ानसाहब की पुत्री), सादुल्लाख़ां,
कुमारी सोफ़िया सोमजी (जिनका विवाह श्री० सादुल्लाख़ाँ
के साथ होना निश्चित हुआ है), व कुमारी मेहरताज

था, जैसे सभाओं में शरीक होनेवाली सैकड़ों-हज़ारों अन्य पठान औरतों ने लिया, मगर इन्हें गिरफ़्तार नहीं किया गया। अलबत्ता इनके लड़के, नज़दीकी व दूर-दराज़ के चचेरे-फुफेरे भाई और बाद में सभी प्रमुख ख़ुदाई ख़िदमतगार एकसाथ गिरफ़्तार कर लिये गये।

अगर ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ां को बम्बई जाने दिया गया होता और पं० जवाहरलाल नेहरू को बम्बई के रास्ते में गिरफ़्तार न कर लिया जाता, तो बहुत संभव है कि पिछले तीन सालों का इतिहास कुछ और ही होता। इन दो महत्त्वपूर्ण गिरफ़्तारियों के बाद भी, जो संधि (ट्रूस) का बहुत साफ़ तौर पर भंग था और सरकार के विरोधी-भाव को स्पष्ट व्यक्त करता था, गाँधीजी ने वाइसराय से मुलाक़ात की जो प्रार्थना की थी वह स्वीकृत हो गई होती तो भी कदाचित् इतिहास कुछ और ही हुआ होता। गाँधीजी सिर्फ़ यही चाहते थे कि संधिभंग के प्रश्न पर विचार-विनियम कर लिया जाय और जहाँ-तक संभव हो उसे वह फिर से क़ायम करने पर तुले हुए थे। यहाँ-तक कि जेल पहुँच जाने के कुछ दिन बाद वहां से भी उन्होंने लार्ड विलिंग्डन को लिखा, कि वैसे नहीं तो क़ैदी के रूप में ही मुझे मुलाक़ात करने की इजाज़त दी जाय, परन्तु वाइसराय ने जवाबतक देने की परवा नहीं की। उचित-अनुचित का कोई सवाल नहीं, सरकार आन्दोलन को कुचलने पर तुली हुई थी और उस हालत में वह "बाग़ियों" से कोई बातचीत नहीं कर सकती थी।

बहादुर उबेदुल्लाख़ाँ अपनी ३८ दिनों की भूख-हड़ताल के कारण पहले ही 'बदनाम' हो चुका था। उसे पहले लुधियाना ले जाया गया,

फिर मुलतान, और वहाँ से काफ़ी सार्वजनिक आन्दोलन के बाद कहीं स्यालकोट-जेल। स्यालकोट जाकर उसका स्वास्थ्य कुछ सुधरा और वहाँ की आबोहवा उसे मुवाफ़िक़ आती नज़र आई। परन्तु कुछ ही समय बाद उसके विरोध करने पर भी उसे फिर मुलतान-जेल भेज दिया गया, जहाँ पहुँचने के कुछ ही देर बाद १ फ़रवरी १९३४ को इस बिना पर उसने भूख-हड़ताल करदी कि मेरे स्वास्थ्य की दृष्टि से जो स्थान अनुकूल पड़ता है वहाँ मुझे रखने से सरकार बराबर इन्कार कर रही है। जितने दिनतक भूख-हड़ताल की वह इस स्वातंत्र्य-आन्दोलन के इतिहास में अपूर्व है, इसलिए स्वभावतः सारे देश का ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया। ७४ दिनतक यह भूख-हड़ताल रही। सरकार ने ज़बरदस्ती ख़ुराक पहुँचाने के सफल-असफल प्रयत्न भी किये। संभवतः उसकी बेहोशी में तो सरकार सफल हो जाती थी, पर उसके होश में आते ही सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते। आख़िर पठान के दृढ़ निश्चय के सामने, जिसकी ज़िन्दगी और बुद्धि पर भूख-हड़ताल कोई असर नहीं डाल सकी थी, सरकार को झुकना ही पड़ा। सचमुच परिस्थिति ऐसी थी कि और कोई होता तो या तो मर जाता या पागल हो जाता। आख़िर, ७८ दिन के बाद, उसकी माँग के अनुसार उसे स्यालकोट-जेल भेज दिया गया और १८ अगस्त को जेल से छूटनेतक वह वहीं रहा।

उबेदुल्लाख़ाँ का उदाहरण है तो शानदार, पर अनुसरण के लायक़ नहीं है। सत्याग्रह की दृढ़ परिभाषा में यह नहीं आता, और अगर भूख-हड़ताल शुरू करने से पहले उसने सत्याग्रह के मंत्रद्रष्टा से

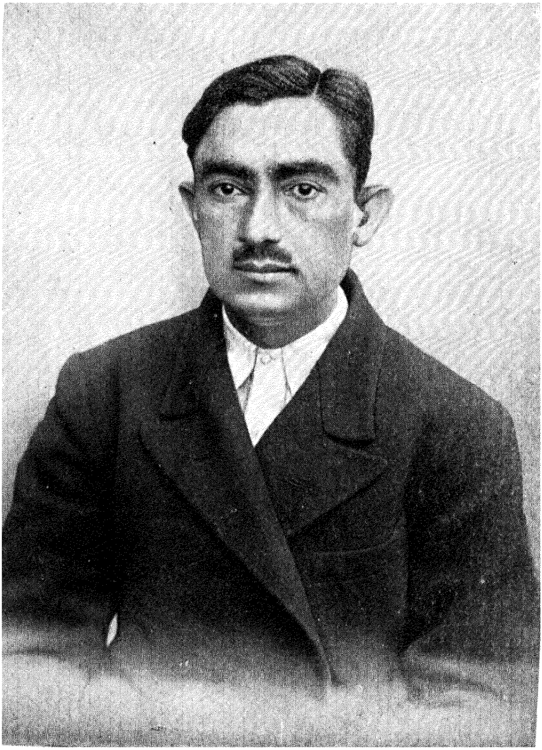

उबैदुल्लाख़ाँ

इस बारे में सलाह ली होती तो उसे कभी इसकी स्वीकृति न मिली होती। परन्तु उसने तो स्वयं जो सत्य समझा उसीपर अमल किया। उसका महत्त्व तो इसी बात में है कि वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा और उसके लिए अपनी जानतक कुरबान करने की उसने तैयारी रक्खी। डा० ख़ानसाहब गर्व के साथ अपने पुत्र का हाल सुनाते हैं और कहते हैं, "यह लड़का दुःसाहस और दुर्लभ साहस का नमूना है।" लेकिन इस सिलसिले में उसके बाप व चाचा के साहस का भी उल्लेख वाञ्छनीय है। उबेदुल्लाख़ाँ की भूख-हड़ताल के समय दोनों ख़ानबन्धु हज़ारी-बाग़-जेल में थे और अख़बारों में कभी-कभी उसके स्वास्थ्य की जो ख़बर पढ़ने को मिलती उसीसे उसके स्वास्थ्य-समाचार जानते थे। सरकार ने उन्हें कभी लड़के की तन्दुरुस्ती की ख़बर नहीं दी, न उन्होंने ही कभी इस बात की फ़िक्र की कि सरकार से उसे देखने या उसे अनशन छोड़ने के लिए मनाने की इजाज़त मांगें। अलबत्ता दिनों-दिन जब यह ख़बर आने लगी कि अब मौत निश्चित है, तो ख़ानबन्धुओं ने इस बात की सूचनाएँ भेजने का निश्चय किया कि मृत शरीर का क्या हो और कहाँ उसे दफ़नाया जाय। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो, इन हिदायतोंवाला पत्र भेजने के एक-दो दिन के भीतर-ही यह समाचार आ गया कि उबेदुल्ला की विजय हुई और स्यालकोट-जेल में उसने अपना अनशन तोड़ दिया है। इस सिलसिले में पुत्र को और पुत्र से भी अधिक उसके पिता तथा चाचा को जो मार्मिक पीड़ा हुई उसके बावजूद भी, मैं कहूँगा, ख़ानबन्धुओं के मन में कोई कटुता नहीं है। गर्वीले पिता ने जिस

समय मुझे यह क़िस्सा सुनाया, वह हँस रहे थे। मुझे विस्तार से सब बातें सुनाते समय उनके मन में न तो कटुता थी न घृणा। और अन्त में उन्होंने कहा—"परन्तु इस सरकार की एक बात विचित्र है। अनशन तोड़ने के बाद उसने उबेदुल्ला के साथ आश्चर्यजनक रूप में अच्छा व्यवहार किया। उसकी तीमारदारी में किसी बात की कमी नहीं रक्खी गई और अनशन के बाद की उस सार-सम्हाल का ही परिणाम है कि वह ज़िन्दा बच गया। इसलिए बाद की इस तीमारदारी के लिए मैं सरकार का कृतज्ञ हूँ।"

एक शब्द डा० खानसाहब के सबसे छोटे पुत्र के बारे में भी। सबसे छोटा पुत्र हिदायतुल्लाखाँ बम्बई के ग्राण्ट मेडिकल कालेज का विद्यार्थी है। छुट्टियों में अपना जी बहलाने के लिए वह उतमानज़ई गया था। उसने आन्दोलन में कोई भाग नहीं लिया और वापस कालेज चला जानेवाला था। मगर उसे भी आर्डिनन्स के मातहत गिरफ़्तार करके छै महीने के लिए क़ैद में डाल दिया गया था।

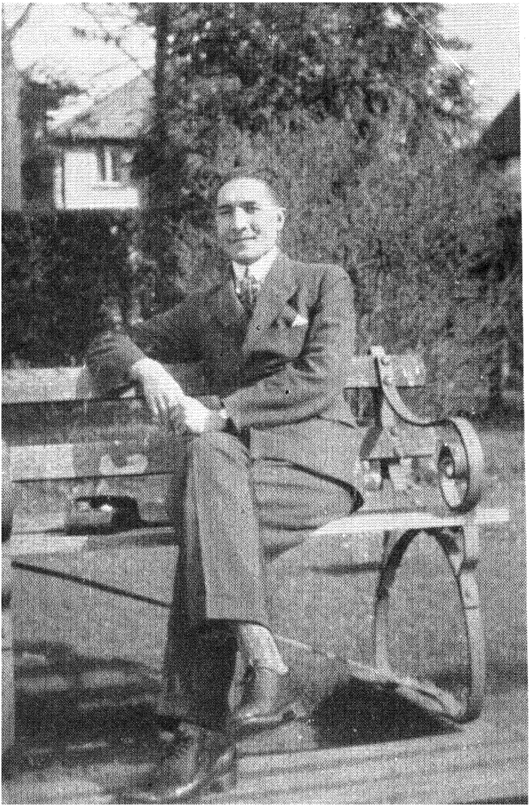

सादुल्लाख़ाँ
(डा० खानसाहब के सबसे बड़े पुत्र)

६

ख़ानबन्धुओं की विशेषताएँ

इन्हीं भाइयों को आज भारत के 'सार्वजनिक शत्रु'—न जाने इस अमरीकन शब्द का क्या अर्थ है—बताया जा रहा है। इन्होंने अनुपम बलिदान किये हैं। ऐसा कष्ट-सहन किया है, जो कुछ ही लोगों के हिस्से आया होगा। और इनके सामने अभी भी सेवा के कई वर्ष पड़े हुए हैं, जिसमें लगातार क़ैद रहते हुए भी—और अगर स्वतंत्र रहे तो पूछना ही क्या—वे अपने अनुयायियों के स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्न में प्रोत्साहन का काम करेंगे। यही बात है कि ब्रिटिश सरकार इनसे भयभीत है—और, अगर उसे इस बात का रत्ती-भर भी प्रमाण मिल जाय कि इन्होंने किसी भी समय सचमुच हिंसा का प्रतिपादन किया या उसका आश्रय लिया तो सम्भवतः इन्हें सख़्त से सख़्त दण्ड देने में वह ज़रा भी पशोपेश नहीं करेगी। निश्चय ही सरहदियों पर

इनका जो प्रभाव है उसका कारण इनका कष्ट-सहन और बलिदान है, परन्तु उससे भी अधिक इनका रोज़मर्रा का जीवन है। जबकि छोटे भाई खान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ खुदापरस्त (धार्मिक प्रवृत्ति के) हैं, बड़े भाई डा० खानसाहब शुद्ध दुनियादार हैं। हर तरह के असत्य, बनावट, दिखावट और चमक-दमक के प्रति इनके हृदय में घृणा का ही उदय होता है। कुलीन वर्ण में पैदा होके भी इन्होंने ऐसा सादा जीवन अख्तियार कर लिया है जिससे आगे बढ़ना मुश्किल है।

१९३१ में जब खान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ बारडोली गये, तो उनके स्वागत के लिए स्टेशन जानेवाले सरदार वल्लभभाई पटेल तथा अन्य लोगों ने व्यर्थ ही सेकण्ड क्लास में उनकी खोज की। वह तो थर्ड क्लास से एक छोटा हैण्डबैग लिये हुए उतरे, जिसमें रेलवे का टाइम-टेबल और बदलने के लिए एक जोड़ी कपड़े मात्र थे। देखने में वह बिलकुल फ़क़ीर मालूम पड़ते हैं, और हैं भी सचमुच फ़क़ीर* ही।

*फ़क़ीर (भिक्षु) ऐसा शब्द है जो संसार से विरक्त होकर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेवालों के लिए प्रयुक्त होता है। पठान शब्द का अर्थ इससे बिलकुल उल्टा है। उसका अर्थ है ऐसा आदमी जिसके पास सांसारिक सम्पत्ति है और जिसकी दुनिया में कुछ गिनती है। "पठान शब्द का मूल चाहे कुछ रहा हो, पर अब यह जाति का निदर्शक नहीं है। अब तो इससे सामाजिक स्थिति या दर्जे का पता लगता है और स्वात तथा दीर में उन लोगों के लिए इस्तैमाल होता है, जिनका क़बीले की जायदाद में कोई हिस्सा होता है और उसके कारण गाँव में तथा क़बीले की पंचायतों (कौंसिलों) में जिनकी कुछ आवाज़ होती है। जो अपना ऐसा हिस्सा खो देता है वह 'फ़क़ीर' कहलाता है, पठान

उनके ग़रीब-से-ग़रीब और नम्र-से-नम्र पठान अनुयायियों के बीच उन्हें औरों से अलग पहचान लेना बड़ा मुश्किल है। परन्तु उनके जीवन की पारदर्शी शुद्धता, उनकी विनम्रता और उनकी निःस्वार्थता ने जादू कर रक्खा है। इनकी बदौलत उन्हें ऐसी शक्ति प्राप्त हुई है कि पठान लोग बिना किसी शंका या दुविधा के उनमें एकान्त श्रद्धा रखते हैं। "पंजाब के कुछ उर्दू अख़बारों ने मेरे ख़िलाफ़ हर तरह की ग़लतफ़हमियाँ फैलाई हैं," ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ ने मुझसे कहा, "एक अख़बार तो मुझे इस्लाम का दुश्मन साबित करने का कोई मौक़ा ही नहीं छोड़ता।" परन्तु इन निन्दा-आक्षेपों के बावजूद अविचलित रूप में वह अपना काम करते रहते हैं। जेल से बाहर रहने पर तो उन्होंने कभी आराम ही नहीं किया, सदा क़ौम को ऊंचा उठाने के उपाय और प्रचार-कार्य करते हुए यहाँ से वहाँ जाते-आते ही रहे। और तारीफ़ यह कि अपने भ्रमण में किसी भी सवारी का वह तबतक कोई इस्तैमाल नहीं करते, जबतक कि इतनी दूर उन्हें नहीं जाना होता कि वह पैदल चल ही न सकें; और जब सवारी के बिना काम ही नहीं चल सकता, तो जो सबसे सस्ती सवारी होती है उसीसे जाते हैं। उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा है और ऐश-आराम से वह दूर रहते हैं। आश्चर्य नहीं कि जहाँ वह जाते हैं वहाँ उनकी इस सादगी के उदाहरण का असर पड़ता है।

के नाम से वंचित हो जाता है और पंचायतों में उसकी कोई आवाज़ नहीं रहती।"—इम्पीरियल गज़ेटियर (भाग २६)।

ख़ानसाहब इस अर्थ में अब पठान नहीं रहे। अब वह सच्चे फ़क़ीर हैं।

लोगों की उनमें अटूट श्रद्धा है और बिना किसी पशोपेश के वे उनका आज्ञा-पालन करते हैं, क्योंकि वह स्वयं इन दोनों गुणों में आदर्श हैं। "मैं तो पैदायशी सिपाही हूँ और मरते दमतक रहूँगा," १६३४ के लिए उन्हें राष्ट्रपति (कांग्रेस का सभापति) बनाने का जो प्रयत्न हो रहा था, उसका विरोध करते हुए उन्होंने कहा। निस्सन्देह वह सिपाही हैं, पर वह ऐसे सिपाही हैं जिसका हुक्म मानने और जिसके पीछे चलने के लिए हज़ारों-लाखों सिपाही तैयार हैं। दम्भ और कपट से वह बहुत चिढ़ते हैं और ऐसा नेतृत्व उनकी समझ ही में नहीं आता, कि जिसका अर्थ अधिक-से-अधिक सेवा के अलावा और कुछ लगाया जाता हो। रचनात्मक कार्यक्रम को वह अभी ही पसन्द करने लगे हों, सो बात भी नहीं है। उन्हें तो ऐसे सब कार्यक्रमों से घृणा है, जिनमें रचनात्मक कार्य के बजाय दिखावा-ही-दिखावा हो।

अंग्रेज़ों की नेकनीयती के विषय में उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में कई आघातों का अनुभव किया है और सर्वत्र 'फूट डालकर शासन करने' की नीति को अकथनीय भीषण रूप से चलते हुए उन्होंने देखा है, इसलिए अंग्रेज़ अफ़सर की बात पर उन्हें मुश्किल से ही विश्वास कराया जा सकता है। परन्तु अंग्रेज़ों के प्रति व्यक्तिगत विरोध उनमें बिलकुल नहीं है। यहाँतक कि अंग्रेज़ जनता के प्रति हमारे भावों के बारे में गांधीजी ने जो भी कुछ कहा या लिखा है उस एक-एक शब्द को वह मानते हैं। सरकारी अधिकारियों में उनके भाई (डा० खानसाहब) के जो मित्र हैं वे उनके भी मित्र हैं और अपनी ज़िन्दगी में उनके लिए

यह एक आश्चर्य की ही बात है कि सीमाप्रान्त का वर्तमान गवर्नर, जो उनके कुटुम्ब को बहुत अच्छी तरह जानता है और उनके भाई का इतना घनिष्ठ मित्र था कि दोनों एक-दूसरे के यहाँ अक्सर आते-जाते रहे हैं, बिना किसी प्रतिवाद के उनके तथा उनके इरादों के बारे में ग़लत-बयानी क्यों चलने देता है !

परन्तु मुझे तो, अपनी दृष्टि से, उनमें जो सबसे बड़ी बात मालूम पड़ती है वह है उनकी आध्यात्मिकता, या कहना चाहिए कि इस्लाम की सच्ची भावना, अर्थात् परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण का भाव। गांधीजी के सारे जीवन को उन्होंने इसी मापदण्ड से नापा है और यही गांधीजी के प्रति उनके सारे आकर्षण का आधार है। न तो गांधीजी का नाम और यश सुनकर वह उनकी ओर आकर्षित हुए हैं, न उनके राजनीतिक कार्य के कारण, और न उनकी विद्रोही एवं क्रान्तिकारी भावना से ही प्रेरित होकर। उनपर जो सबसे ज़्यादा असर पड़ा वह तो गांधीजी के शुद्ध और संयमी जीवन एवं आत्म-शुद्धि पर उनके आग्रह का पड़ा है; और १९१९ के बाद का उनका सारा जीवन आत्म-शुद्धि का सतत-प्रयत्न ही रहा है। सौभाग्यवश मेरे कई मुसलमान मित्र हैं, जो तपे हुए सोने की तरह सच्चे और हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं मातृभूमि के लिए अपना सब-कुछ कुरबान करने के लिए तैयार हैं, परन्तु अभीतक ऐसे किसी को मैं नहीं जानता, जो पारदर्शी शुद्धता और अपने जीवन में संयमपूर्ण कठोरता के साथ-साथ अपनी कोमल भावनाओं एवं परमेश्वर में जीवित विश्वास रखने में ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ से अधिक नहीं तो कम-से-

कम उसके बराबर ही हो। "जब कभी गांधीजी के जीवन में कोई बहुत महत्त्व और सार का प्रश्न उठता है और गांधीजी कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय करते हैं, तो," उन्होंने मुझसे कहा, "अपने आप मेरे मन में यह बात उठती है, कि 'यह एक ऐसे आदमी का निर्णय है जिसने परमेश्वर को आत्म-समर्पण कर दिया है; और परमेश्वर कभी बुरा आदेश नहीं देता।' गांधीजी के सब उपवासों को मैंने बिना किसी आशंका के प्रभु-प्रेरित ही माना है।" जब गांधीजी के उस वक्तव्य के बारे में उनसे पूछा गया, जिसमें गांधीजी ने अपने कांग्रेस से अलग होने का इरादा प्रकट किया था, तो उन्होंने कहा—"उनके इस नतीजे पर पहुँचने पर मुझे कोई आश्चर्य नहीं है। उनके निर्णयों पर शंका करना मुझे कभी आसान नहीं मालूम पड़ा, क्योंकि अपनी सारी बातों को वह परमेश्वर के सामने रखते हैं और ध्यान से उसके आदेश को सुनते हैं। हरेक सुधारक ऐसा ही हुआ है और हरेक सुधारक के जीवन में हमेशा एक समय ऐसा आता है, जब उसके लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि वह अपने अनुयायियों से अलग होकर उनकी मर्यादाओं एवं कमज़ोरियों की पर्वा न करते हुए आगे बढ़े। ऐसा करते हुए वह अपनी सेवाओं का क्षेत्र कम या मर्यादित नहीं करता, बल्कि और बढ़ाता है। अन्ततोगत्वा मेरे पास तो माप का एक ही परिमाण (स्टैंडर्ड) है, और वह यही कि ईश्वरार्पण की दिशा में कहाँ तक प्रगति की गई।" यही वह बात है जिससे वह मनुष्यों और दूसरी चीज़ों के बारे में निर्णय करते हैं और जिसपर से उनके बारे में कुछ निर्णय किया जाना चाहिए।

बड़े भाई (डा० खानसाहब) इससे भिन्न प्रकार के हैं। उन्होंने दूर-दूर का चक्कर लगाया है, सब तरह के आदमियों से वह हिले-मिले हैं, और जिस प्रकार छोटे भाई ने अपने अन्दर नज़र डालने की कोशिश की है वैसे उन्होंने अपने बाहर नज़र डाली है। जब कि छोटे भाई अक्सर अपनी अन्तरात्मा में पैठना पसन्द करते हैं, बड़े भाई बाहर की दुनिया में जाकर नये-नये सम्बन्ध स्थापित करने और उन्हें बढ़ाने पर ध्यान देते हैं। छोटे भाई अधिक-से-अधिक आत्म-नियंत्रण का प्रयत्न करते हैं, बड़े भाई जीवन को अपनी स्वाभाविक गति से चलने देते हैं और उससे या मनुष्य-स्वभाव से जो-कुछ हो जाय उससे अधिक की चिन्ता नहीं करते। वह जन्मजात खिलाड़ी हैं। अपने कालेज की क्रिकेट टीम के वह नेता थे और लण्डन में रहते हुए उन्होंने इतनी अच्छी तरह क्रिकेट खेला कि इसमें उनकी प्रसिद्धि हो गई। इस प्रकार खिलाड़ी के रूप में ही उन्होंने अपना जीवन बनाया है। संभव है कि बरसों तक आराम और सुविधा का जीवन बिताने के बाद १६३१-३२ में अपने आराम व सुविधा को छोड़कर राजनीतिक जीवन की कठिनाइयाँ स्वीकार करना उनके लिए अपने छोटे भाई से अधिक मुश्किल रहा हो, जिन्होंने कि २६ वर्ष की ही उम्र में इनकी दीक्षा पाकर पानी में रहनेवाली मछली की तरह कष्ट-सहन का जीवन ग्रहण कर लिया था। मगर डाक्टरसाहब ने सब कुछ खिलाड़ी की ही भावना से ग्रहण किया। क्योंकि इस बात को वह जानते हैं कि जीवन में मधुरताएँ बहुत हैं तो कठिनाइयां भी कम नहीं हैं। और छोटे भाई तो

जीवन की कठिनाइयों में ही उस मधुरता का आनन्द लूटना पसन्द करते हैं।

छोटे भाई आत्म-संयम पर अत्यधिक ज़ोर देते हैं और उसीमें प्रसन्न होते हैं। बड़े भाई ऐसा नहीं करते, पर जब ऐसा मौक़ा आता है तो खिलाड़ी की तरह हँसते हुए उसे ग्रहण करते हैं। सिगरेट पीने के बारे में बातें करते हुए एकबार डाक्टरसाहब ने मुझसे कहा कि एक समय वह सिगरेट के इतने आदी थे कि दिन भर में पचास से कम नहीं पीते थे, पर १९३१ में उन्हें महसूस हुआ कि एक-न-एक दिन मुझे जेल जाना ही पड़ेगा, अतः एक दिन उन्होंने सिगरेट क़तई न पीने का निश्चय कर लिया। तबसे उन्होंने तम्बाकू को छुआतक नहीं है। किन्तु ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ ने तो सिगरेट कभी पीया ही नहीं!

डा० ख़ानसाहब ने एक क़िस्सा मुझसे कहा था, जो यहाँ लिख देना ज़रूरी है। क्वेटा के प्रख्यात कर्नल सर राबर्ट सँडमैन के पुत्र कर्नल सँडमैन संधि (ट्रूस) के समय अपने 'गाइड्स' (बालचरों) के साथ पेशावर गये थे। 'संधि' पर अफ़सरों का मन बहुत दुःखी था। कर्नल सँडमैन ने अपने मित्र डा० ख़ानसाहब से इस भाव को नहीं छिपाया। इसपर डाक्टरसाहब ने उससे कहा—"नहीं, कर्नल सँडमैन, अपने हारने का ख़याल आप अपने मन से बिलकुल निकाल डालिए। राजनीतिक जीवन तो एक खेल है, जिसमें विजयी और पराजित को उसी प्रकार आपस में हाथ मिलाने चाहिए जैसे फुटबाल या क्रिकेट के खेल में मिलाये जाते हैं। फिर, इस मामले में तो हार-

जीत का कोई सवाल ही नहीं है। और अभी तो नतीजा भी बराबर का ही निकला है, जिसमें न तो कोई विजयी कहा जा सकता है न पराजित।" और ऐसा कहकर उन्होंने तुरन्त उस अफ़सर की तसल्ली करदी। फलतः जब वे एक-दूसरे से जुदा हुए तो उस सैनिक ने कहा, "ठीक, ठीक, हमने एक-दूसरे को इतनी अच्छी तरह जान लिया है कि मैं आशा और प्रार्थना करता हूँ कि गाइडूस लोग चरसद्दा में कोई बुरी बात करने के दोषभागी नहीं बनेंगे।"

छोटे भाई अपने विरोधियों से बिलकुल धार्मिक भाव से मिलते हैं, जब कि बड़े बिलकुल व्यावहारिक रूप में। इस प्रकार जब कि बड़े भाई अपने कट्टर-से-कट्टर विरोधी के साथ भी धीरज के साथ मिलते हैं, छोटे भाई के लिए एक निश्चित सीमा से आगे उनके साथ बातचीत करना मुश्किल है। बड़े भाई विद्यार्थियों के साथ हँसते-हँसते बातें कर सकते हैं, पर छोटे भाई के लिए उन लड़कों के साथ मेलजोल करना कठिन है जो निरुपयोगी शिक्षा के पीछे अपना समय बरबाद कर रहे हैं। उनका अपना एक संकुचित दायरा है, जिससे बड़े भाई बिलकुल मुक्त मालूम पड़ते हैं। परन्तु अपनी मर्यादाओं को ख़ान अबुलग़फ़्फ़ारख़ाँ बख़ूबी जानते हैं। डा० ख़ानसाहब को पेशावर से एसेम्बली के लिए खड़ा होने को तैयार करने में ज़्यादा समय नहीं लगा, परन्तु छोटे भाई के सामने ऐसा प्रस्ताव रखने का कोई साहस ही नहीं करेगा। किसी राजनीतिक काम के लिए दूत बनकर जाना हो तो बड़े भाई को उसमें कोई पशोपेश न होगा, परन्तु छोटे भाई स्वभावतः उससे हट जायेंगे। सच तो यह है कि ये एक-दूसरे

की पूर्ति करते हैं और दोनों मिलकर अनुपम जोड़ी बन जाते हैं। क्योंकि एक-दूसरे से इतने भिन्न होते हुए भी अपनी अनुपम सचाई, अगाध श्रद्धा, उद्देश की तन्मयता एवं पारस्परिक अनुराग की कोमलता में वे परस्पर बहुत समान हैं। दोनों ही अपनेको खुदाई खिदमतगार—प्रभु-सेवक—कहलाना पसन्द करते हैं, और दोनों अपने जीवन में गम्भीरता के साथ इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि सचमुच वे इस कठिन नाम के योग्य बन जायें।

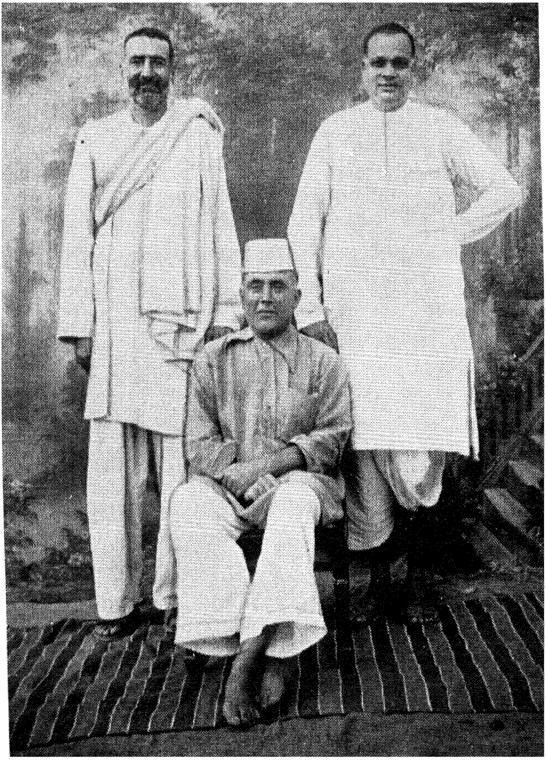

ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ, डा० ख़ानसाहब, सेठ जमनालाल बजाज
(यह चित्र खानसाहब की गिरफ्तारी से एक दिन पहले,
८ दिसम्बर, १९३४, को लिया गया था)

१०

फिर अपने 'असली घर' में

यह अध्याय, अभी जो कुछ लिखा जा चुका है उसका परिशिष्टस्वरूप है। राजद्रोह के अपराध में ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार-ख़ाँ की गिरफ़्तारी के कारण, इस पुस्तक को अप-टू-डेट करने के लिए यह लिखा जा रहा है।

हज़ारीबाग़-जेल से छूटने के बाद से, सेठ जमनालाल बजाज के सहृदयतापूर्ण आमंत्रण पर, इन भाइयों ने वर्धा को अपना घर बना लिया है। गाँधीजी भी सेठजी के ही मेहमान होकर वर्धा रह रहे हैं, इस बात ने इन्हें इस निश्चय पर पहुँचने में मदद की, क्योंकि जेल से इसी निश्चय के साथ ये बाहर आये थे कि अपनेको गाँधीजी के ऊपर छोड़ देंगे और जैसा वह कहेंगे बिलकुल उसी प्रकार करेंगे। इन्होंने मध्यप्रान्त के कुछ स्थानों का भ्रमण किया, साथ ही बंगाल

भी गये, और इस बीच में संयुक्तप्रान्त के भी कुछ स्थानों का चक्कर लगाया। मगर वास्तव में इनके ये सब कार्यक्रम गाँधीजी के द्वारा ही तय किये गये थे और यह कहने में मैं कोई रहस्योद्घाटन नहीं कर रहा हूँ कि ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ जब-जब वर्धा से बाहर गये तब-तब इस बात की विस्तृत हिदायतें लिये बिना नहीं गये कि किस बात को कैसे उन्हें कहना चाहिए। बड़े भाई ने अपने प्रान्त से एसेम्बली के लिए खड़ा होना भी गाँधीजी के ही कहने से स्वीकार किया, और चुनाव के समय जब इनमें से एक भाई को यह महसूस हुआ कि चुनाव-कार्य के लिए ही डा० ख़ानसाहब के सीमाप्रान्त में जाने की सरकार से इजाज़त माँगी जाय तो कैसा, तब गाँधीजी के कहने पर ही यह योजना छोड़ दी गई थी। ख़ानसाहब तो स्वदेशी-प्रदर्शिनी भी गाँधीजी की इजाज़त लिये बग़ैर खोलने को तैयार न हुए, और तब बम्बई के मित्रों को गांधीजी से प्रार्थना करनी पड़ी कि वह उनसे प्रदर्शिनी के उद्घाटन का निमंत्रण स्वीकार करादें। मैं तो यहाँतक कह सकता हूँ कि गाँधीजी का आग्रह न होता तो ख़ानसाहब कांग्रेस-कार्य-समिति की सदस्यता भी स्वीकार न करते। यह कहते वह कभी नहीं थकते कि 'पद या राजनीति के लिए मैं ठीक नहीं हूँ, मुझे तो एक नम्र कार्यकर्ता रहने में ही सन्तोष है।' पटना में कार्य-समिति की जो बैठक हुई उसमें शामिल होने के लिए वह आज़ाद थे, परन्तु वह तो यह कहकर उससे अलग ही रहे कि जो 'एजेण्डा' (कार्यक्रम) रक्खा गया है उसके विचारार्थ मेरी उपस्थिति की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके मन में तो बिना लेक्चरबाज़ी के चुपचाप गाँवों

में काम करना ही समाया हुआ है, अतः जब गाँधीजी ने अखिल-भारत ग्राम-उद्योग-संघ की कार्यकारिणी में उन्हें रखने की इच्छा प्रकट की तो उसे स्वीकार करने में उन्हें कोई पशोपेश नहीं हुआ।

जहाँतक बड़े भाई का सम्बन्ध है, अपनी आश्चर्यजनक मिलनसारी और खिलाड़ीपन की 'स्पिरिट' के कारण, जो छोटे भाई के कठोर संयमी स्वभाव के बिलकुल विपरीत मालूम पड़ती है, उन्होंने कदाचित् छोटे भाई से भी अधिक मित्र बनाये हैं। डा० ख़ानसाहब ने बिना किसी दिखावे या समारोह के जमनालालजी के यहाँ मरीज़ों का, जिनकी संख्या गाँधीजी से मिलने तथा भिन्न-भिन्न बैठकों में शरीक होने के लिए आनेवाले अनेक मित्रों से सदा बढ़ती ही जाती है, इलाज अपने ऊपर ले लिया। इसके बाद महिलाओं और कन्याओं के लिए वर्धा में खुले हुए आश्रमों को उन्होंने अपनी सेवाएँ अर्पित कीं, जो कृतज्ञता के साथ स्वीकार की गईं, और अभी हाल में उन्होंने आसपास के गाँवों में चिकित्सा व सफ़ाई के उद्देश से रोज़ दस-पन्द्रह मीलतक जाना शुरू कर दिया है। तारीफ़ यह है कि इस भूतपूर्व आई० एम० एस० के लिए कोई भी काम निकृष्ट नहीं है। मैंने इनको अपने मरीज़ के बिस्तरे पर बैठकर मरीज़ का सेक करते हुए और कभी-कभी किसी सब्ज़ी के शोरवे के लिए, जो कि बीमारी के दिनों में इनका ख़ास पथ्य रहता है, सब्ज़ी काटते हुए भी देखा है। बड़े सबेरे गाँधीजी की सुबह की हवाख़ोरी में शरीक होने के लिए यह आश्रम आजाते हैं। बिना कुछ कहे-सुने चुप-

चाप उनके साथ-साथ जाते हैं और आश्रम में कोई बीमार हों तो उनको देखते हुए घर लौट जाते हैं।

कांग्रेस के इतिहास में और कोई दो ऐसे उदाहरण मिलने मुश्किल हैं, जो अपनी स्थिर भक्ति और स्वेच्छापूर्ण वफ़ादारी में इनसे बढ़कर हों।

इन भाइयों ने तो अपने घरेलू मामलों तक को गाँधीजी के सामने रखने में कोई संकोच नहीं किया है। वर्धा में कुछ दिन जमनालालजी के मेहमान रहते समय खान अब्दुग़फ़्फ़ारखाँ ने वहाँ महिला और कन्या-आश्रम का काम देखा। वहाँ के सरल जीवन और वहाँ की शान्ति, शुद्धता एवं स्वतंत्रता के वातावरण तथा शारीरिक परिश्रम पर दिये जानेवाले आग्रह को देखकर वह मुग्ध हो गये और उन्होंने अपनी लड़की मेहरताज को, जो अपनी ताई (डा० खानसाहब की अंग्रेज़ पत्नी) की देखरेख में लण्डन थी, लण्डन से बुलाकर वर्धा के कन्या-आश्रम में पढ़ाने की इच्छा प्रकट की। निश्चय ही यह एक साहसपूर्ण और श्रेष्ठ निर्णय था, परन्तु पठान लड़की को इंग्लैण्ड भेजकर अंग्रेजों के स्कूल में पढ़ाया जा सकता है तो फिर उसे वर्धा के कन्या-आश्रम को अपना स्कूल बनाने में भला कोई कठिनाई क्यों होनी चाहिए? और अपनी लड़की की देखभाल के लिए आश्रम की मुख्याध्यापिका एवं मीराबहन से बढ़कर अच्छे अभिभावक और कहाँ मिल सकते हैं? इस प्रकार खानसाहब ने अपना प्रश्न रक्खा, और तब गाँधीजी ने बिना किसी पशोपेश के बच्ची मेहरताज को अपने साथ लाने के लिए मीराबहन को तार दे दिया।

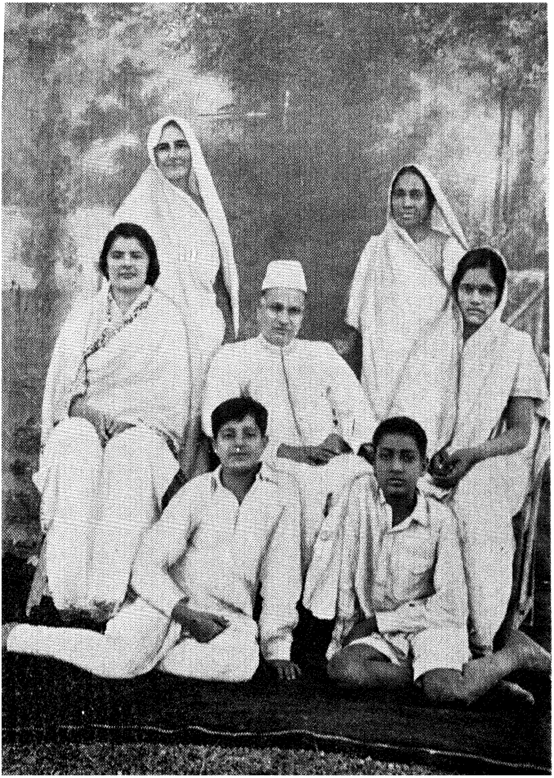

पीछे—मीराबहन, श्रीमती जानकीदेवी बजाज
बीच में—मेहरताज़, सेठ जमनालाल बजाज, उमा बजाज
आगे—अब्दुलअलीख़ाँ, रामकृष्ण बजाज

मीराबहन और मेहरताज दोनों ने एक इटालियन जहाज़ में 'डेक' पर सफ़र किया और २२ नवम्बर १९३४ को वर्धा पहुँच गईं।

बालिका मेहरताज ने डेढ़ वर्ष बाद अपने पिता के दर्शन किये, पर उसका जो छोटा भाई कर्नल ब्राउन के स्कूल (देहरादून) में था उसे तो बाप से मिले चार वर्ष हो चुके थे। ख़ानसाहब के संयुक्त-प्रान्तीय भ्रमण के समय वह (अब्दुलअली) उनसे मिला और उनके साथ ४ दिसम्बर १९३४ को वर्धा आया। ज़रा कल्पना कीजिए कि ७ दिसम्बर की शाम को जब इन छोटे बच्चों ने अपने पिता की गिरफ़्तारी का समाचार सुना तो उन्हें कैसा दुःख हुआ होगा! जमनालालजी ने जब यह ख़बर सुनाई, तो बारह बरस के उस छोटे बच्चे ने उनसे पूछा—"जब आप और महात्माजी आदि सब लोग आज़ाद हैं, तो मेरे पिता ही क्यों गिरफ़्तार होने चाहिए?" "क्योंकि," जमनालालजी ने सिसकते हुए बच्चे को तसल्ली देते हुए कहा, "उन्होंने बम्बई में राजद्रोही भाषण दिया बताते हैं।" और तब "राजद्रोह क्या है?" सहज-स्वभाव बच्चे की इस जिज्ञासा को भी सरल भाषा में जमनालालजी को शान्त करना पड़ा।

परन्तु यह ध्यान रहे कि बच्चों के साथ पिता ने आँसू नहीं ढलकाये। वह जानते थे कि उन्हें ऐसी मित्रता का सौभाग्य हुआ है, जो कभी नष्ट नहीं होगी और कठोर परीक्षाओं एवं कठिनाइयों के साथ उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहेगी। सचमुच जमनालालजी और गाँधीजी की यह मित्रता ऐसी है कि बिना किसी पशोपेश के वह अपने बच्चों को इनके सुपुर्द कर सकते हैं। वर्धा के इन कुछ दिनों ने

दोनों भाइयों को जमनालालजी और गांधीजी के इतना निकट ला दिया है कि मेहमान और यजमान दोनों के बीच आध्यात्मिक आत्मीयता एवं भाईचारे का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इनके बीच राजनीतिक बातें तो मुश्किल से ही कभी हुई होंगी, परन्तु प्रार्थनापूर्ण और मौन आध्यात्मिक विचार-विनिमय काफ़ी हुआ है; और इस बात का तो हरेक पर बहुत ही अच्छा असर पड़ा है कि गांधीजी रोज़ सबेरे तुलसी-कृत रामायण का जो पाठ करते थे उसमें शरीक होने के लिए तो रोज़ और सुबह-शाम होनेवाली प्रार्थनाओं में भी अक्सर ख़ानसाहब आश्रम आया करते थे। "इस भजन का संगीत मेरी आत्मा को तृप्त कर देता है," उन्होंने एक दिन प्यारेलालजी से कहा, "मेहरबानी करके इसे उर्दू में लिखकर इस-का उर्दू तर्जुमा मुझे करदीजिए।" मूलतः एकान्तप्रिय होने के कारण, उन्हें और कोई बात इतनी पसन्द नहीं है जितना शान्तिपूर्वक प्रार्थना और चुपचाप काम करना पसन्द है, और इन दोनों उद्देशों से प्रेरित होकर ही उन्होंने अपनेको बंगाल के गाँवों में खपा देने का निश्चय किया था। कोई दो महीने पहले जब वह बंगाल गये तो झोंपड़ियों में जा-जाकर उन्होंने वहाँ के ग़रीब मुसलमान किसानों की हालत देखी, और तब उन्हें खादी के महत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव होगया। इसलिए उनतक ग्रामीण उद्योगों के पुनरुद्धार का सन्देश पहुँचाना चाहा। ६ दिसम्बर को ही वह इसके लिए बंगाल चले जानेवाले थे, परन्तु शीघ्र ही जिस ग्राम-उद्योग-संघ की कार्यकारिणी का निर्माण होनेवाला था उसकी पहली बैठक के लिए रुक जाने का

जमनालालजी ने उनसे आग्रह किया और तब उनका जाना १५ तारीख के लिए स्थगित कर दिया गया था। वस्तुतः हम उनके बंगाल में जाकर काम करने की कल्पना और चर्चा ही कर रहे थे, कि ७ तारीख की शाम को पुलिस का डिस्ट्रिक्ट सुप्रिण्टेण्डण्ट उनकी गिरफ़्तारी का वारण्ट लेकर आ पहुँचा। ऐसी बातों के लिए सदा तैयार रहनेवाले इस महान् पठान ने वारण्ट को देखते के साथ ही कहा, 'मैं तैयार हूँ।' परन्तु उन्हें कुछ समय दिया गया कि वह अपने मित्रों, भाई तथा बच्चों से मिललें। जब वह जाने की तैयारी कर रहे थे, गांधीजी ने उनसे कहा—"अच्छा ख़ानसाहब, यह याद रखना, अबतक जैसा हम करते आये हैं उसके बख़िलाफ़ इस बार हम सफ़ाई पेश करेंगे।" पर ख़ानसाहब तो इस बात से कुछ चौंक से पड़े। उन्होंने कहा कि १९१९ से हम जैसा करते आये हैं उससे भिन्न कुछ करने की इच्छा नहीं होती। "मैं इस सम्बन्ध की आपकी भावना को समझता हूँ," गांधीजी ने कहा, "परन्तु यह मौक़ा वैसा नहीं है। जहाँतक हो सके, हम अभी जेल नहीं जाना चाहते।" और तब चुपचाप यह जवाब मिला—"अच्छा, तो जैसा आप कहें।" यह उनकी सुन्दर श्रद्धा का दूसरा उदाहरण है।

बड़े भाई के लिए निश्चय ही यह बड़े दुःख की बात थी कि जो भाई तीन वर्ष से अधिक के जेल-वास में तथा उसके बाद की सौ दिनों की मर्यादित स्वतंत्रता में उनके हर्ष-विषाद का भागीदार रहा वही उनसे बिछुड़ गया। परन्तु इस व्यक्तिगत बात के लिए भी छोटे भाई को कोई रंज नहीं हुआ। उन्होंने अपने छोटे बच्चों से कहा कि

वे बहादुर बनें और अपने स्वीकृत अभिभावक गांधीजी व जमनालालजी की कृपापूर्ण देख-भाल में सादगी और आत्म-नियंत्रण का सबक़ लें।

परन्तु एक रंज ऐसा था, जिसकी कुछ परछाईं उनके चेहरे पर पड़ी मालूम पड़ती थी। "मेरी बड़ी इच्छा थी कि बंगाल के गाँवों में रहनेवाले ग़रीब मुसलमानों से मैंने जो वादा किया, मैं उसको पूरा कर सकता। मैंने उनसे वादा किया था कि मैं उनके साथ रहकर उन्हींके बीच काम करूँगा, पर अब मैं वह छोटी-सी सेवा भी नहीं कर सकूँगा।" और कुछ देरतक विषादयुक्त गम्भीरमुद्रा से देखते हुए उन्होंने कहा, "सीमाप्रान्त के बारे में मैं क्या कहूँ, यह मैं नहीं जानता। मैं चाहता हूँ कि मेरी गिरफ़्तारी से उत्तेजित होकर मेरे भाई कोई गड़बड़ न करें। उन्हें शान्ति के साथ इसे बर्दाश्त करना चाहिए और ठण्डे साहस के साथ अपने आन्तरिक मतभेदों को दूर कर संयुक्त होने के शान्त कार्य में जुट पड़ना चाहिए। मुझे इस बात का दुःख है कि जब सब तरह के आक्षेप हमपर किये जा रहे हैं, हमें यह सिद्ध करने का कोई मौक़ा नहीं दिया जाता कि वे सब ग़लत हैं। एक सरकारी रिपोर्ट में मेरे प्रान्त (सीमाप्रान्त) को 'ख़ूनी प्रान्त' कहा गया है, मगर सीधे-सादे अपढ़ पठानों में, और तो और, शिक्षा व समाज-सुधार के अराजनीतिक काम करने तक की हमें क्या सुविधाएँ दी गई हैं?"

परन्तु ज्यों ही बम्बई रवाना होने का समय आया, इस सच्चे ख़ुदाई ख़िदमतगार के मन से यह रंज भी निकल गया। "मुझे पक्का

विश्वास है," जमनालालजी और उनकी धर्मपत्नी जानकीदेवी से विदा लेते हुए ख़ानसाहब ने कहा, "मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह सब अल्लाह का काम है। उसने मुझे उतने समयतक बाहर रक्खा, जितने के लिए कि उसे बाहर मेरा उपयोग करना था। अब उसकी इच्छा है कि मैं अन्दर रहकर सेवा करूँ, तो यही सही। जिसमें वह ख़ुश रहे उसीमें मेरी भी ख़ुशी है।"

नवयुग-साहित्य-मन्दिर के ग्रंथ

१—पक्षी-परिचय

[लेखक—श्री पारसनाथसिंह, बी० ए०, एल०-एल० बी०]

अभी तक हिन्दी भाषा में प्रकृति-पाठ [Nature Study] पर ऐसी पुस्तक की कमी थी। अब बड़ी खोज और अध्ययन के बाद भारतीय पक्षियों के विषय में यह विस्तृत, सरल और परम आवश्यक पुस्तक लिखी गई है। इसमें बड़े मनोरंजक ढंग से भारत के प्रत्येक प्रांत में पाई जानेवाली चिड़ियों के हुलिया, बोली, रहन-सहन, चाल-ढाल, घोंसला आदि बनाने का समय, प्रसवकाल, पर्य्यटन, स्वभाव आदि का वर्णन बड़ी ही सरल भाषा में किया गया है। साथ ही पक्षियों के चित्र भी दिये गये हैं। विविध चित्रों से विभूषित २३८ पृष्ठ व तिरंगे कवर की पुस्तक का मूल्य १।)

२—आविष्कार की कहानियाँ

इस पुस्तक में छापे की कल, भाप की कल, रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी, जहाज़, पनडुब्बी नाव, हवाई जहाज़, बिजली, तार, टेलीफ़ोन, ग्रामोफ़ोन और बेतार के तार के आविष्कारों का सरल भाषा में वर्णन है। पृष्ठ संख्या १३०, दर्जनों सादे और रंगीन चित्र, मूल्य ।॥)

३—संसार की सैर

इस पुस्तक में लेखक महोदय ने बच्चों को घर बैठे ही सारी दुनिया की सैर कराने का काम बड़ी सफलता से पूरा किया है। अन्दर भी ४६ चित्र हैं। मूल्य ॥=)

४—शिवा बावनी

प्रातःस्मरणीय छत्रपति शिवाजी की प्रशंसा में कविकुल-भूषण द्वारा कहे गये ५२ कवित्तों का संग्रह टीका सहित साहित्यिक भाषा में किया गया है, पुस्तक, हिन्दी रत्न, हिन्दी भूषण व हिन्दी प्रभाकर के विद्यार्थियों के बड़े काम की है। पृष्ठ संख्या ६६, मूल्य ।-)

५—पिता और पुत्र

[प्रसिद्ध रूसी लेखक तुर्गनेव का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास]

अमीरों और ग़रीबों की लड़ाई का तात्विक विश्लेषण। रूस की भूखी जनता के दुःख-निवारण के लिए नवयुवकों की नवचेतना का इतिहास। किसानों की दरिद्रता तथा उनके अज्ञान और बेबसी का हृदय-द्रावक वर्णन बड़ी ही सजीव और मार्मिक भाषा में किया गया है। पृष्ठ-संख्या ४७५—सजिल्द पुस्तक का मूल्य २)

६—विफल विद्रोह

[अलेग्जैण्डर डूमा की अद्भुत रचना]

फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात, और उसके कार्यक्रम की असफलता, सम्राट् हेनरी तृतीय का शासन, पेरिस के नागरिकों और राजपरिवार के सम्राट्-विरोधियों का कार्यक्रम, सालसेड की हत्या श्रीमती मारटपेरियर की अद्भुत षड्यंत्र-शक्ति आदि का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन इस पुस्तक में है। पक्की मज़बूत जिल्द। मूल्य २॥)

७—रानी की अंगूठी

[लेखक—राइडर हैगर्ड]

यह एक वीरतापूर्ण उद्योग और दृढ़ता की कहानी है। सर हथेली पर रखकर अफ्रीका के जंगल में घूमनेवाले एक युद्धप्रिय कप्तान की बहादुरी, स्वामिभक्त सेवक का आत्मत्याग और पुरातत्व प्रेमी प्रोफ़ेसर का ज्ञानप्राप्ति के लिए बलिदान आदि का वर्णन बड़ी ही उत्तम भाषा में किया गया है। पृष्ठ संख्या ५२५—पक्की मज़बूत जिल्द। मूल्य २॥।)

८—जीवन-मरण

यह प्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यासकार बेलज़क के Life & Death का अनुवाद है। इस पुस्तकमें एक राज कुमारके अपूर्व त्यागकी कहानी है, जिसने राजतंत्र का विनाश कर प्रजातंत्र की स्थापना करा दी। पृष्ठ संख्या ३६३। मूल्य १॥)

९—कार्ल-मार्क्स

यह पुस्तक साम्यवाद के प्रसिद्ध आचार्य्य का सचित्र जीवनचरित्र है। मार्क्स ने साम्यवाद को कल्पना के क्षेत्र से हटाकर वैज्ञानिक रूप दिया है। वर्तमान इतिहास के विद्यार्थी के लिए परमावश्यक। पृष्ठ संख्या १८६, मूल्य ॥|)

१०—पद्म-पराग

[लेखक— पं० पद्मसिंहजी शर्मा]

पं० पद्मसिंहजी शर्मा सजीव भाषा लिखनेवालों में अग्रणी थे। इन लेखों में पंडितजी ने प्रसङ्गानुकूल ऐसी रचना-चातुरी दिखाई है कि कहीं नसों में बिजली दौड़ जाती है, तो कहीं पढ़नेवाले की हालत मन्त्र-मुग्ध की-सी हो जाती है; कहीं उसकी हँसी रोके नहीं रुकती तो कहीं आँखों से आँसुओं का प्याला छलक पड़ता है। पुस्तक काव्य प्रेमियों के पढ़ने योग्य है। पृष्ठ सं० ४७५। १० चित्रों सहित सजिल्द पुस्तक का मूल्य २॥|)

११—राजस्थानी बाताँ

[सम्पादक—पं० सूर्यकरण पारीक, एम० ए०]

प्रस्तुत पुस्तक राजस्थानी भाषा की ७ प्राचीन ऐतिहासिक वीरता पूर्ण कहानियों का संग्रह है जो प्रायः २५० वर्ष पुरानी हैं। पृष्ठ संख्या २१४। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १॥)

१२—बोलावण या प्रतिज्ञा पूर्ति

[लेखक— श्री सूर्यकरण पारीक, एम० ए०]

इस छोटे से मारवाड़ी भाषा के नाटक के नायक जवाहरसिंह एक आनबानवाले वृद्ध ठाकुर हैं जो शरण में आये हुए की रक्षा करना अपना परमधर्म समझते हैं। मूल्य केवल ।)

मिलने का पता :—**नवयुग साहित्य मन्दिर,**

हिंदुस्तान टाइम्स, दिल्ली।

कुछ चुनी हुई पुस्तकें—

आत्म कथा—(महात्मा गांधी जी का स्वयं लिखा जीवनचरित्र) महात्मा जो आज दुनिया के सर्व श्रेष्ठ महापुरुष माने जाते हैं। इस पुस्तक से आप उनके जीवन के प्रत्येक कार्य से परिचित होंगे। पृष्ठ संख्या ६२०। पक्की जिल्द। मूल्य लागत मात्र १॥)

जीवन साहित्य (दो भाग)—इस पुस्तक में काका कालेलकर के निबन्धों का संग्रह है। इन निबन्धों में शिक्षा, त्योहार, कर्म, राजनीति, तत्वज्ञान पर उनके मौलिक विचार हैं। पृष्ठ संख्या ४३५। मूल्य १।)

भारत में व्यसन और व्यभिचार—ले० बैजनाथमहोदय बी० ए०। इस पुस्तक में आँकड़ों तथा उदाहरणों द्वारा यह बताया गया है कि भारतवर्ष में शराब, भांग, गांजा, अफ़ीम आदि दुर्व्यसन कैसे फैले तथा उनसे भारत वर्ष की जनता को क्या क्या हानियां हुई और हो रही हैं और किस प्रकार हम इन दुर्गुणों के पंजों से निकल सकते हैं। हिन्दी में अपने विषय की यह उत्कृष्ट पुस्तक है। पृष्ठ संख्या ३५२ मूल्य ॥|=)

अनीति की राहपर—संयम, इन्द्रिय निग्रह, तथा ब्रह्मचर्य पर महात्मा गांधी जी की यह कृति अनुपम और सर्व श्रेष्ठ है। पुस्तक प्रत्येक युवक और युवती को पढ़नी चाहिए और उस पर अमल करना चाहिए। मूल्य ।≡)

कन्या-शिक्षा—इस पुस्तक में लेखक ने बिलकुल सरल ढंग से विवाह के बाद के कन्याओं के जीवन के महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों पर बड़े मनोरंजक ढंग से सुन्दर शिक्षायें प्रश्नोत्तर के रूप में लिखी हैं। इस छोटी सी पुस्तक में गृहकार्य, अतिथि धर्म, शिल्प कला, रोगी परिचर्या आदि सभी सीखने योग्य बातें आ गई हैं। मूल्य ।)

व्यावहारिक सभ्यता—बालक को किस तरह बैठना, उठना, बोलना, लिखना-पढ़ना चाहिए आदि सभी बातें इस पुस्तक में दी गई हैं। बालकों के लिए बड़ी उपयोगी है। पुस्तक के सात संस्करण निकल चुके हैं। मूल्य ।=)

दुःखी दुनिया—श्री राजगोपालाचार्य जी की ५ कहानियों का संग्रह है। कहानियां करुणा, दया, दुःख, वेदना से ओत प्रोत व पढ़ने वाले के दिल में प्रलय मचा देने वाली हैं। मूल्य ॥)

अनासक्तियोग और गीताबोध—महात्मा गांधी जी कृत गीता का अनुवाद श्लोक सहित है पृष्ठ संख्या ३५०। मूल्य केवल ।=)

मराठों का उत्थान और पतन—जिस विशाल साम्राज्य का बीज छत्रपति शिवाजी ने औरंगज़ेब जैसे दुर्दान्त शत्रु का मुकाबला करके कठिन परिस्थितियों के बीच बोया उसी के उत्थान व पतन का इतिहास इस पुस्तक में बड़े परिश्रम व खोज से लिखा गया है। पुस्तक इतिहास के विद्यार्थियों के लिये बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ संख्या ६४० मूल्य २॥)

भाई के पत्र—हिन्दी में ऐसी पुस्तक की बहुत कमी थी जो निःसंकोच बहनों के हाथ में दी जा सके। यह पुस्तक बिना किसी हिच-किचाहट के अविवाहित तथा विवाहित बहनों के हाथों में दी जा सकती है और इसके पढ़ने से जो सात्विक ज्ञान और बोध उन्हें मिलेगा वह अपूर्व होगा। पुस्तक प्रत्येक भाई, बहन, बहू, बेटी, माता आदि के पढ़ने योग्य है। पृष्ठ संख्या २७२। मूल्य केवल १॥)

बुद्‌बुद्—(ले० हरिभाऊ उपाध्याय) अपने जीवन को उच्च बनाने की इच्छा रखने वाले पाठकों को जीवन के कठिन और अशान्तकारी प्रसंगों पर इनसे काफ़ी सहायता, प्रकाश, प्रेरणा व सांत्वना मिलेगी। संग्रह मनन और अध्ययन करने की चीज है। मूल्य ॥)

गांधी विचार दोहन—(लेखक किशोरलाल घ० मशरूवाला) गांधी जी के जीवन, उनके सिद्धान्त और उनकी शिक्षाओं से प्रत्येक मनुष्य लाभ उठा सकता है। इस पुस्तक में गांधी जी के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक तथा साहित्यिक विचारों पर प्रकाश डाला गया है। मू० ॥।)

हमारे राष्ट्रनिर्माता—(ले० रामनाथलाल 'सुमन') राष्ट्रीय जागृति को समझने के लिय राष्ट्रनिर्माताओं का जीवन चरित्र अनिवार्य है। प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय नेता लोकमान्य तिलक, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० माल-

वोयजी, लाला लाजपतराय, महात्मा गांधी, देशबन्धु दास, पं० जवाहर-लाल, मौ० मुहम्मदअली, प्रेसीडेन्ट पटेल, सरदार वल्लभभाई की जीवनियां उनके जीवन की संस्मरणीय घटनाओं एवं संस्मरणों के साथ दी गई हैं। मूल्य सजिल्द ३)

भारत के स्त्री रत्न (दो भाग)—इस पुस्तक में लगभग ६० प्रसिद्ध एवं पूजनीय देवियों की मनोहर तथा पवित्र जीवन कथाएं लिखी गई हैं। बहने उन्हें पढ़ें तथा भारत के पवित्र, गौरवशाली भूतकाल की छवि देखें। पृष्ठ संख्या ७२५। मूल्य ।।।=)

कलवार की करतूत	=)	नरमेध	१॥)
हमारा कलंक	॥=)	जिन्दालाश	॥)
दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह	१।)	जीवन विकास	१।)
दिव्य जीवन	।=)	रोटी का सवाल	१)
ब्रह्मचर्य विज्ञान	।।।=)	जीवन सूत्र	।।।)
आत्मोपदेश	।)	महान् मातृत्व की ओर	।।।=)
अंधेरे में उजाला (नाटक)	॥)	श्री राम चरित्र	१।)
समाज विज्ञान	१॥)	गोरों का प्रभुत्व	।।।=)
क्या करें ? दो भाग	१॥=)	स्त्री समस्या	१।।।)
आत्मोपदेश	।)	इंगलैण्ड में महात्माजी	१)
जब अंग्रेज नहीं आये थे	।)	जीवन सूत्र	।।।)
स्वाधीनता के सिद्धान्त	॥)	संघर्ष या सहयोग	१॥)

पता—सस्ता-साहित्य-मण्डल,

नया बाज़ार, दिल्ली।